# बापू

लेखक

श्री घनश्यामदास बिड़ला

प्रकाशक

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

# बापू



लेखक

घनश्यामदास बिड़ला



सर्वोदय साहित्य माला
१०२वां ग्रन्थ

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

# आदि वचन

यदि भगवद्गीता के बारे में लिखना आसान हो, तो गांधीजी के बारे में भी लिखना आसान हो सकता, क्योंकि भगवद्गीता पर लिखा हुआ भाष्य न केवल गीता-भाष्य होगा, बल्कि भाष्यकार के जीवन का वह दर्पण भी होगा। जैसे गीतारहस्य लोकमान्य के जीवन का दर्पण है, वैसे ही अनासक्तियोग गांधीजी के जीवन का दर्पण है। ठीक उसी तरह गांधीजी के जीवन की समीक्षा करने में लेखक अपने जीवन का चित्र भी उस समीक्षा के दर्पण में खींच लेता है।

एक बात और। जैसे गीता सबके लिए एक खुली पुस्तक है, उसी तरह गांधीजो का जीवन भी एक खुली पुस्तक कहा जा सकता है। गीता को बड़े-बड़े विद्वान् तो पढ़ते ही हैं, हजारों श्रद्धालु लोग भी, जो प्रायः निरक्षर होते हैं, उसे प्रेम से पढ़ते हैं। गांधीजी के जीवन की—विशेषतः उनकी आत्म-कथा की—भी यही बात है। जैसे गीता सबके काम की चीज है, वैसे गांधीजी भी सबके काम के हैं। गीता से बड़े विद्वान् अधिक लाभ उठाते हैं, या निरक्षर किंतु श्रद्धालु भक्त अधिक
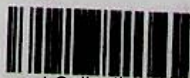
उठाते हैं, यह विचारनेयोग्य प्रश्न है। यही बात गांधीजी के विषय में भी है। उनके जीवन को—उनके सिद्धान्तों को—समझने के लिए न तो विद्वत्ता की आवश्यकता है, न लेखन-शक्ति की। उसके लिए तो हृदय चाहिए, सत्यशीलता चाहिए। मुझे पता नहीं, श्री घनश्यामदासजी का नाम विद्वानों या लेखकों में गिना जाता है या नहीं, किंतु धनिकों में तो गिना ही जाता है। परन्तु उन्होंने धन की माया से अलिप्त रहने और अपने हृदय को स्फटिक-सा निर्मल और बुद्धि एवं वाणी को सत्यपूत रखने का यथासाध्य प्रयत्न किया है। और उस हृदय, बुद्धि और वाणी से की गई यह समीक्षा, बिड़लाजी आज अच्छे विद्वान् या लेखक न माने जाते हों तो भी, समीक्षा की उत्तम पुस्तकों में स्थान पायेगी और हिन्दी के उत्कृष्ट लेखकों में उनकी गणना करायेगी।

यों तो श्री घनश्यामदासजी की लेखन-शक्ति का परिचय जितना मुझे है उतना हिन्दी-जगत् को शायद न होगा। मैं कई साल से उनके सम्पर्क में हूँ, उनके हिन्दी भाषा में लिखे हुए पत्र मुझे सीधी-सादी, नपी-तुली और सारगर्भित शैली के अनुपम नमूने मालूम हुए हैं। और जबसे मैं उस शैली पर मुग्ध हुआ हूँ, तबसे सोचता आया हूँ कि बिड़लाजी कुछ लिखते क्यों नहीं! मुझे बड़ा आनन्द

होता है कि इस पुस्तक में उसी आकर्षक शैली का परिचय मिलता है जिसका कि उनके पत्रों में मिलता था।

गांधीजी के सम्पर्क में आये बिड़लाजी को २५ वर्ष हो गये हैं। इस पच्चीस साल के सम्बन्ध के बारे में वह लिखते हैं :

"जबसे मुझे गांधीजी का प्रथम दर्शन हुआ, तबसे मेरा उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध जारी है। पहले कुछ साल में समालोचक होकर उनके पास जाता था, उनके छिद्र ढूंढ़ने की कोशिश करता था, क्योंकि नौजवानों के आराध्य लोकमान्य की ख्याति को इनकी ख्याति टक्कर लगाने लग गई थी, जो मुझे रुचिकर नहीं मालूम देती थी। पर ज्यों-ज्यों छिद्र ढूंढ़ने के लिए मैं गहरा उतरा, त्यों-त्यों मुझे निराश होना पड़ा और कुछ अरसे में समालोचक की वृत्ति आदर में परिणत हो गई और फिर आदर ने भक्ति का रूप ले लिया। बात यह है कि गांधीजी का स्वभाव ही ऐसा है कि कोई विरला ही उनके संसर्ग से बिना प्रभावान्वित हुए छूटता है।" इतना मैं जानता हूँ कि घनश्यामदासजी बिड़ला तो नहीं छूटे। वह लिखते हैं : "गांधीजी से मेरा पच्चीस साल का संसर्ग रहा है। मैंने अत्यंत निकट से, सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा, उनका अध्ययन किया है। समालोचक होकर छिद्रान्वेषण किया है। पर मैंने उन्हें

कभी सोते नहीं पाया।" यह वचन गांधीजी के बारे में तो सत्य है ही, पर बिड़लाजी के बारे में भी काफ़ी अंश में सत्य है। क्योंकि गांधीजी न सिर्फ़ खुद ही नहीं सोते हैं, बल्कि जो उनके प्रभाव में आते हैं उनको भी नहीं सोने देते हैं।

यह पुस्तक इस जाग्रत अध्ययन, अनुभव और समालोचन का एक सुन्दर फल है। उन्होंने एक-एक छोटी-मोटी बात को लेकर गांधीजी के जीवन को देखनें का प्रयत्न किया है। गांधीजी से पहले-पहल मिलने के बाद बिड़लाजी ने उनको एक पत्र लिखा। जवाब में एक पोस्टकार्ड आया, 'जिसमें पैसे की किफ़ायत तो थी ही, पर भाषा की भी काफ़ी किफ़ायत थी।' बात तो मामूली-सी है, परन्तु उसमें से गांधीजी के जीवन की एक कुंजी उन्हें मिल जाती है। "पता नहीं, कितने नौजवानों पर गांधीजी ने इस तरह छाप डाली होगी, कितनों को उलझन में डाला होगा, कितनों के लिए वह कौतूहल की सामग्री बने होंगे! पर १९१५ में जिस तरह वह लोगों के लिए पहेली थे, वैसे ही आज भी हैं।" यह सही है, पर इस पुस्तक में हम देखते हैं कि उनके जीवन की कई पहेलियाँ घनश्यामदासजी ने अच्छी तरह सुलझाई हैं।

गीता इतना सीधा-सादा और लोकप्रिय ग्रंथ होने पर भी

पहेलियों से भरा हुआ है। इसी तरह गांधीजी का जीवन भी पहेलियों से भरा पड़ा है। कुछ रोज़ पहले रामकृष्ण-मठ के एक स्वामीजी यहाँ आये थे। बड़े सज्जन थे, गांधीजी के प्रति बड़ा आदर रखते थे। और गांधीजी की ग्रामोद्योग-प्रवृत्ति अच्छी तरह समझने के लिए, और कातने-धुनने की क्रिया सीखकर अपने समाज में उसका प्रचार करने के लिए वह यहाँ आये थे। एक रोज मुझसे वह पूछने लगे, "गांधीजी के जीवन की एकाग्रता देखकर मैं आश्चर्यचकित होता हूँ, और उनकी ईश्वर-श्रद्धा देखकर भी। क्या गांधीजी कभी भावावेश में आजाते हैं? क्या दिन में किसी समय वह ध्यानावस्थित होकर बैठते हैं?" मैंने कहा—"नहीं।" उनके लिए यह बड़ी पहेली होगई कि ऐसे कोई बाह्य चिन्ह न होते हुए भी गांधीजी बड़े भक्त हैं और योगी हैं। गांधीजी के जीवन में ऐसी कई पहेलियां हैं। उनमें से अनेक पहेलियों को हल करने का सफल प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है।

एक उदाहरण लीजिए। अहिंसा से क्या सब वस्तुओं की रक्षा हो सकती है? यह प्रश्न अक्सर उपस्थित किया जाता है। इस प्रश्न का कैसी सुन्दर भाषा में बिड़लाजी ने उत्तर दिया है:

"धन-सम्पत्ति-संग्रह, माल-जायदाद इत्यादि की रक्षा क्या अहिंसा से हो सकती है ? हो भी सकती है और नहीं भी। जो लोग निजी उपयोग के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, सम्भव नहीं कि वे अहिंसा-नीति के पात्र हों। अहिंसा यदि कायरता का दूसरा नाम नहीं, तो फिर सच्ची अहिंसा वह है, जो अपने स्वार्थ के लिए संग्रह करना नहीं सिखाती। अहिंसक को लोभ कहाँ ? ऐसी हालत में अहिंसक को अपने लिए संग्रह करने की या रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। योग-क्षेम के झगड़े में शायद ही अहिंसा का पुजारी पड़े।

"**निर्योगक्षेम आत्मवान्**"—गीता ने यह धर्म अर्जुन-जैसे गृहस्थ व्यक्ति का बताया है। यह तो संन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता ने नहीं कहा। गीता संन्यास नहीं, कर्म सिखाती है, जो गृहस्थ का धर्म है। अहिंसावादी का भी शुद्ध धर्म उसे योग-क्षेम के झगड़े से दूर रहना सिखाता है। पर संग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और 'पर' दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। जो 'स्व' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे अहिंसा-धर्म की पात्रता संपादन नहीं कर सकते। जो 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे गांधीजी के शब्दों में 'ट्रस्टी' हैं। वे अनासक्त होकर

योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते हैं। वे संग्रह रखते हुए भी अहिंसावादी हैं, क्योंकि उन्हें संग्रह में कोई राग नहीं। धर्म के लिए जो संग्रह है, वह धर्म के लिए अनायास छोड़ा भी जा सकता है और उसकी रक्षा का प्रश्न हो तो वह तो धर्म से ही की जा सकती है, पाप से नहीं। इसके विपरीत, जो लोग संग्रह में आसक्त हैं, वे न तो अहिंसात्मक ही हो सकते हैं, न फिर अहिंसा से धन की रक्षा का प्रश्न ही उनके सम्बन्ध में उपयुक्त है। पर यह संभव है कि ऐसे लोग हों, जो पूर्णतः अहिंसात्मक हों, जो सब तरह से पात्र हों, और अपनी आत्मशक्ति द्वारा, यदि उन्हें ऐसा करना धर्म लगे तो, किसीके संग्रह की भी वे रक्षा कर सकें।

"पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिंसक और हिंसक मार्ग की कोई तुलना है ही नहीं। दोनों के लक्ष्य ही अलग-अलग हैं। जो काम हिंसा से सफलतापूर्वक हो सकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यों न हो—वह अहिंसा से हो ही नहीं सकता। मसलन् हम अहिंसात्मक उपायों से साम्राज्य नहीं फैला सकते, किसी का देश नहीं लूट सकते। इटली ने अबीसीनिया में जो अपना साम्राज्य-स्थापन किया, वह तो हिंसात्मक उपायों द्वारा ही हो सकता था।

"इसके माने यह हैं कि अहिंसा से हम धर्म की रक्षा कर सकते हैं, पाप की नहीं। और संग्रह यदि पाप का दूसरा नाम है, तो संग्रह की भी नहीं। अहिंसा में जिन्हें रुचि है, वे पाप की रक्षा करना ही क्यों चाहेंगे ? अहिंसा का यह मर्यादित क्षेत्र यदि हम हृदयंगम करलें, तो इससे बहुत-सी शंकाओं का समाधान अपने-आप हो जायेगा। बात यह है कि जिस चीज़ की हम रक्षा करना चाहते हैं वह यदि धर्म है, तब तो अहिंसात्मक विधियों से विपक्षी का हम सफलता-पूर्वक मुक़ाबिला कर सकते हैं। और यदि यह पाप है, तो हमें स्वयं उसे त्याग देना चाहिए और ऐसी हालत में प्रतिकार का प्रश्न ही नहीं रहता।

"यह निर्णय फिर भी हमारे लिए बाक़ी रह जाता है कि "धर्म क्या है, अधर्म क्या है ?" पर धर्माधर्म के निर्णय में सत्य के अनुयायी को कहाँ कठिनता हुई है ?

**"जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ;**
**मैं बौरी ढूँढ़न गई, रही किनारे बैठ।"**

"असल बात तो यह है कि जब हम धर्म की नहीं, पाप की ही रक्षा करना चाहते हैं, और चूँकि अहिंसा से पाप की रक्षा नहीं हो सकती, तब अहिंसा के गुण-प्रभाव में हमें शंका होती है और अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित होते हैं।"

इसी तरह जितने प्रश्न बिड़लाजी ने उठाये हैं उन सबकी चर्चा सूक्ष्म अवलोकन और चिंतन से भरी हुई है। उनके धर्म-चिंतन और धर्मग्रंथों के अध्ययन का तो मुझे तनिक भी खयाल नहीं था। इस पुस्तक से उसका पर्याप्त परिचय मिलता है। गीता के कुछ श्लोक जो कहीं-कहीं उन्होंने उद्धृत किये हैं, उनका रहस्य खोलने में उन्होंने कितनी मौलिकता दिखाई है!

बिड़लाजी की किफ़ायती और चुभ जानेवाली शैली के तो हमको स्थान-स्थान पर प्रमाण मिलते हैं : "असल में तो शुद्ध मनुष्य स्वयं ही शस्त्र है और स्वयं ही उसका चालक है।" "गन्दे कपड़े की गन्दगी की यदि हम रक्षा करना चाहते हैं तो पानी और साबुन का क्या काम? वहाँ तो कीचड़ की ज़रूरत है।" "आकाशवाणी अन्य चीज़ों की तरह पात्र ही सुन सकता है, सूर्य का प्रतिबिंब शीशे पर ही पड़ेगा, पत्थर पर नहीं।" "सरकार ने हमें शान्ति दी, रक्षा दी, परतन्त्रता दी, नुमाइन्दे भी वही नियुक्त क्यों न करे?" "सूरज से पूछो कि आप सर्दी में दक्षिणायन और गर्मी में उत्तरायण क्यों हो जाते हैं, तो कोई यथार्थ उत्तर मिलेगा? सर्दी-गर्मी दक्षिणायन-उत्तरायण के कारण होती है, न कि दक्षिणायन-उत्तरायण सर्दी-गर्मी के

कारण। गांधीजी की दलीलें भी वैसी ही हैं। वह निर्णय के कारण बनती हैं, न कि निर्णय उनके कारण बनता है।"

आखिरी तुलना कितनी मनोहर, कितनी मौलिक और कितनी अर्थपूर्ण है! गांधीजी के जीवन के कई कार्यों पर इस दृष्टि से कितना प्रकाश पड़ता है!

गांधीजी की आत्म-कथा तो हम सब पढ़ चुके हैं, परन्तु उसके कुछ भागों पर श्री घनश्यामदासजी ने जैसा भाष्य किया है, वैसा हममें से शायद ही कोई करते हों। गांधीजी को मारने के लिए दक्षिण अफ्रीका में गोरे लोगों की भीड़ टूट पड़ती है। मुश्किल से गांधीजी इससे बचते हैं। बिड़लाजी को उस दृश्य का विचार करते ही दिल्ली के लक्ष्मीनारायण-मन्दिर के उद्घाटन के समय की भीड़ याद आ जाती है, और दोनों दृश्यों का सुन्दर समन्वय करके वे अपनी बात का समर्थन करते हैं।

गांधीजी के उपवास, उनकी ईश्वर-श्रद्धा, उनके सत्याग्रह आदि कई प्रश्नों पर, उनके जीवन के अनेक प्रसंग लेकर उसकी गहरी छानबीन करके, उन्होंने बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है।

उनकी समझ, उनकी दृष्टि इतनी सच्ची है कि कहीं-कहीं उनका स्पष्टीकरण गांधीजी के स्पष्टीकरण की याद

दिलाता है। यह पुस्तक तो लिखी गई थी कोई तीन महीने पहले, लेकिन उस समय उन्होंने अहिंसक सेनापति और अहिंसक सेना के बारे में जो-कुछ लिखा था वह मानों वैसा ही है जैसा अभी कुछ दिन पहले गांधीजी ने 'हरिजन' में लिखा था।

"यह आशा नहीं की जाती कि समाज का हर मनुष्य पूर्ण अहिंसक होगा। पर जहाँ हिंसक फ़ौज के बल पर शान्ति और साम्राज्य की नींव डाली जाती है, वहाँ भी यह आशा नहीं की जाती कि हर मनुष्य युद्ध-कला में निपुण होगा। करोड़ों की बस्तीवाले मुल्क की रक्षा के लिए कुछ थोड़े लाख मनुष्य काफ़ी समझे जाते हैं। सौ में एक मनुष्य यदि सिपाही हो तो पर्याप्त माना जाता है। फिर उन सिपाहियों में से भी जो ऊपरी गणनायक होते हैं, उन्हींकी निपुणता पर सारा व्यवहार चलता है।

"आज इंग्लिस्तान में कितने निपुण गणनायक होंगे, जो फ़ौज के संचालन में अत्यन्त दक्ष माने जाते हैं? शायद दस-बीस। पर बाक़ी जो लाखों की फ़ौज है, उससे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उसमें अपने अफ़सरों की आज्ञा पर मरने की शक्ति हो। इसी उदाहरण के आधार पर हम एक अहिंसात्मक फ़ौज की भी कल्पना कर सकते हैं।

अहिंसात्मक फ़ौज के जो गणनायक हों, उनमें पूर्ण आत्म-शुद्धि हो, जो अनुयायी हों वे श्रद्धालु हों, और चाहे उनमें इतना तीक्ष्ण विवेक न हो, पर उनमें सत्य-अहिंसा के लिए मरने की शक्ति हो। इतना यदि है तो काफ़ी है।"

सारी पुस्तक बिड़लाजी की तलस्पर्शी परीक्षण-शक्ति का सुन्दर नमूना है। केवल एक स्थान पर मुझे ऐसा लगा कि वह जितनी दूर जाना चाहिए उतनी दूर नहीं गये। अहिंसा की समीक्षा करते हुए उन्होंने एक अबाध सत्य प्रतिपादित किया है—अनासक्त होकर, अरागद्वेष होकर जनहित के लिए की गई हिंसा अहिंसा है। यह अबाध सत्य तो गीता में है ही। पर उसपर से बिड़लाजी ने जो अनुमान निकाला है, उसे शायद ही गांधीजी स्वीकारेंगे। बिड़लाजी कहते हैं—"गांधीजी स्वयं जीवन-मुक्त दशा में, चाहे वह दशा क्षणिक–जब निर्णय किया जा रहा हो उस घड़ी के लिए–ही क्यों न हों, अहिंसात्मक हिंसा भी कर सकें, जैसे कि बछड़े की हिंसा, पर साधारण मनुष्य के लिए तो वह कर्म कौए के लिए हंस की नक़ल होगी।" इसपर मैं दो बातें कहना चाहता हूँ। बछड़े की हिंसा जीवन-मुक्त दशा में की गई हिंसा का उदाहरण है ही नहीं। थोड़े दिन पहले सेवाग्राम में एक पागल सियार आगया था। उसे मारने की गांधीजी

ने आज्ञा दे दी थी, और ये मारनेवाले कोई अनासक्त जीवन-मुक्त नहीं थे। वह आवश्यक और अनिवार्य हिंसा थी, जितनी कि कृषि-कार्य में कीटादि की हिंसा आवश्यक और अनिवार्य हो जाती है। हिंसा के भी कई प्रकार हैं। बछड़े की हिंसा का दूसरा प्रकार है। घुड़दौड़ में जिस घोड़े का पैर टूट जाता है या ऐसी चोट लगती है कि जिसका इलाज ही नहीं है, और पशु के लिए जीना एक यंत्रणा हो जाता है, उसे अंग्रेज लोग मार डालते हैं। वे प्रेम से, अद्वेष से मारते हैं, पर वे मारनेवाले कोई अनासक्त या जीवन-मुक्त नहीं होते। जिस हिंसा को गीता ने विहित कहा है, वह हिंसा अलौकिक पुरुष ही कर सकता है—राम, कृष्ण कर सकते हैं। परन्तु राम और कृष्ण, गांधीजी के अभिप्राय में, वहाँ ईश्वरवाचक हैं। गांधीजी अपने को जीवन-मुक्त नहीं मानते और न वे और किसी को भी संपूर्ण जीवन-मुक्त मानने के लिए तैयार हैं। संपूर्ण जीवन-मुक्त ईश्वर ही है और यह गांधीजी की दृढ़ मान्यता है कि **'हत्त्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबध्यते'** वचन भी ईश्वर के लिए ही है। इसलिए वह कहते हैं—मनुष्य चाहे जितना बड़ा क्यों न हो, चाहे जितना शुद्ध क्यों न हो, ईश्वर का पद नहीं ले सकता, और न व्यापक जनहित के लिए भी उसे हिंसा करने का अधिकार

है। इस निर्णय में से सत्याग्रह और उपवास की उत्पत्ति हुई।

इस एक स्थान को छोड़कर बाक़ी पुस्तक में मुझे कहीं कुछ भी नहीं खटका, बल्कि सारा विवेचन इतना तलस्पर्शी और सारा दर्शन इतना दोषमुक्त मालूम हुआ है कि मैं पुस्तक को प्रूफ के रूप में ही दो बार पढ़ गया, तथा और भी कई बार पढ़ूँ तो भी मुझे थकान नहीं आयेगी। मुझे आशा है कि और पाठकों की भी यही दशा होगी, और जैसा कि मुझे मालूम हुआ है, औरों को भी इस पुस्तक का पठन शांतिप्रद और चेतनाप्रद मालूम होगा।

सेवाग्राम,
८-९-४०

**महादेव देसाई**

# चित्र-सूची

चित्र

हिन्दुस्तान टाइम्स

# बापू

Ephande.

१

गांधीजी का जन्म अक्तूबर सन् १८६९ ईस्वी में हुआ। इस हिसाब से वह इकहत्तर वर्ष समाप्त कर चुके। अनन्तकाल के अपरिमित गर्भ में क्या इकहत्तर और क्या इकहत्तर सौ! अथाह सागर के जल में विद्यमान एक बूँद की गणना भले ही हो सके, पर अनन्तकाल के उदर में बसे हुए इकहत्तर साल की क्या बिसात? फिर भी यह सही है कि भारत के इस युग के इतिहास में इन इकहत्तर सालों का इतना महत्त्व है जितना और किसीका शायद ही हो।

भारतवर्ष में इस समय एक नई तरह की मानसिक हलचल का दौरदौरा है; एक नई तरह की जाग्रति है; एक नये अनुभव में से हम पार हो रहे हैं। धार्मिक विप्लव यहाँ अनेक हुए हैं, पर राजनीति का जामा पहनकर धर्म किस तरह अपनी सत्ता जमाना चाहता है, यह इस देश के लिए एक नया ही अनुभव है। इसका अन्त क्या होगा, यह तो भविष्य ही बतायेगा।

पर जबकि सारा संसार अस्त्र-शस्त्रों के मारक गर्जन से त्रस्त है और विज्ञान नित्य ऐसे नये-नये ध्वंसक आविष्कार करने में व्यस्त है, जो छिन में एक पल पहले की हरी-भरी फुलवाड़ी को फूँककर स्मशान बना दें, जबकि स्वदेश और स्वदेश-भक्ति के नाम पर खून की नदियाँ बहाना गौरव की बात समझी जाती हो, जबकि सत्यानाशी कामों द्वारा मानवधर्म की हिंसासन-स्थापना का सुख-स्वप्न लिया जाता हो, ऐसे अन्धकार में गांधीजी का प्रवेश आशा की एक शीतल किरण की तरह है जो, यदि भगवान् चाहे तो, एक प्रचण्ड जीवक तेज में परिणत होकर संसार में फिर शान्ति स्थापित कर सकती है।

पर शायद मैं आशा के बहाव में बहा जा रहा हूँ।

तो भी इतना तो शुद्ध सत्य है ही कि गांधीजी के आविर्भाव ने इस देश में एक आशा, एक उत्साह, एक उमंग और जीवन में एक नया ढँग पैदा कर दिया है; जो हज़ारों साल के प्रमाद के बाद एक बिल्कुल नई चीज़ है।

किसी एक महापुरुष की दूसरे से तुलना करना एक कष्ट-साध्य प्रयास है। फिर गांधी हर युग में पैदा भी कहाँ होते हैं ? हमारे पास प्राचीन इतिहास—जिसे दर-असल तारीख़ कहा जा सके—भी तो नहीं है कि हम

गणना करें कि कितने हज़ार वर्षों में कै गांधी पैदा हुए। राम-कृष्ण चाहे देहधारी जीव रहे हों, पर कवि ने मनुष्य-जीवन की परिधि से बाहर निकालकर उन्हें एक अलौकिक रूप दे दिया है। कवि तो कवि ही ठहरा, इसलिए उसका दिया हुआ अलौकिक स्वरूप भी अपूर्ण है। ऐसे स्वरूप के विवरण के लिए तो कवि अलौकिक, लेखनी अलौकिक और भाषा भी अलौकिक ही चाहिए। पर तो भी कवि की इस कृति के कारण राम-कृष्ण को मानवी मापदण्ड से मापना दुष्कर होगया है।

इसके विपरीत, कवि के पुष्कल प्रयत्न करने पर भी वह बुद्ध की ऐतिहासिकता और उसका मानवी जीवन न मिटा सका। इसलिए संसार के ऐतिहासिक महापुरुषों में बुद्ध ने एक अत्यन्त ऊँचा स्थान पाया। पर कलियुग में एक ही बुद्ध हुआ है और एक ही गांधी। बुद्ध ने अपने जीवनकाल में एक दीपक जलाया, जिसने उसकी मृत्यु के बाद अपने प्रचण्ड तेज से एशियाभर में प्रकाश फैला दिया। गांधीजी ने अपने जीवनकाल में उससे कहीं अधिक प्रखर अग्नि-शिखा प्रदीप्त की, जो शायद समय पाकर संसारभर को प्रज्वलित करदे।

अपने जीवनकाल में गांधीजी ने जितना यश कमाया, जितनी ख्याति प्राप्त की और वह जितने लोकवल्लभ

हुए, उतना शायद ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हुआ हो। ऐसे पुरुष के विषय में कोई कहाँतक लिखे ? इकहत्तर साल की क्रमबद्ध जीवनी शायद ही कभी सफलता के साथ लिखी जा सके। और फिर गांधीजी को पूरा जानता भी कौन है ?

"सम्यक् जानाति वै कृष्णः किंचित् पार्थो धनुर्धरः"

जैसे गीता के बारे में यह कहा गया है, वैसे गांधीजी के बारे में यह कहा जा सकता है कि उन्हें भली प्रकार तो खुद वही जानते हैं, बाक़ी कुछ-कुछ महादेव देसाई भी ।

## २

मैंने गांधीजी को पहले-पहल देखा तब या तो उन्नीस सौ चौदह का अन्त था, या पन्द्रह का प्रारम्भ। जाड़े का मौसम था। लन्दन से गांधीजी स्वदेश लौट आये थे और कलकत्ते आने की उनकी तैयारी थी। जब यह ख़बर सुनी कि कर्मवीर गांधी कलकत्ते आ रहे हैं, तो सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के दिल में एक तरह का चाव-सा उमड़ पड़ा। उन दिनों का सार्वजनिक जीवन कुछ दूसरा ही था। अख़बारों में लेख लिखना, व्याख्यान देना, नेताओं का स्वागत करना और स्वयं भी स्वागत की लालसा का व्यूह रचना, सार्वजनिक जीवन क़रीब-क़रीब यहींतक सीमित था।

मैंने उन दिनों जवानी में पाँव रक्खा ही था; बीसी बस ख़त्म हुई ही थी। पाँच सवारों में अपना नाम लिखाने की चाह लिये मैं भी फिरता था। मेलों में वालंटियर बनकर भीड़ में लोगों की रक्षा करना, बाढ़-पीड़ित या अकाल-पीड़ित लोगों की सेवा के लिए सहायक-केन्द्र

खोलना, चन्दा माँगना और देना, नेताओं का स्वागत करना, उनके व्याख्यानों में उपस्थित होना, यह उन दिनों के सार्वजनिक जीवन में रस लेनेवाले नौजवानों के कर्त्तव्य की चौहद्दी थी। उनकी शिक्षा-दीक्षा इसी चौहद्दी के भीतर शुरू होती थी। मेरी भी यही चौहद्दी थी, जिसके भीतर रस और उत्साह के साथ मैं चक्कर काटा करता था।

नेतागण इस चौहद्दी के बाहर थे। उनके लिए कोई नियम, नियंत्रण या विधान नहीं था। जोशीले व्याख्यान देना, चन्दा माँगना, यह उनका काम था। स्वागत पाना, यह उनका अधिकार था। इसके माने यह नहीं कि नेता लोग अकर्मण्य थे या कर्त्तव्य में उनका मोह था। बात यह थी कि उनके पास इसके सिवा कोई कार्यक्रम ही नहीं था; न कोई कल्पना थी। जनता भी उनसे इससे अधिक की आशा नहीं रखती थी। नेता थे भी थोड़े-से, इसलिए उनका बाज़ार गरम था। अनुयायी भक्ति-भाव से पूजन-अर्चन करते, जिसे नेता लोग बिना संकोच के ग्रहण करते थे।

उस समय के लीडरों की नुक़ताचीनी करते हुए अकबर साहब ने लिखा था :—

**"क़ौम के ग़म में डिनर खाते हैं हुक्काम के साथ,**
**रंज लीडर को बहुत है, मगर आराम के साथ।"**

अवश्य ही अकबर साहब ने घोड़े और गदहे को एक ही चाबुक से हाँकने की कोशिश की, मगर इसमें सरासर अत्युक्ति थी ऐसा भी नहीं कहना चाहिए।

यदि कुछ लीडरों के साथ उन्होंने अन्याय किया, तो बहुतों के बारे में उन्होंने यथार्थ बात भी कह दी।

गांधीवाद के आविर्भाव के बाद तो मापदंड कुछ न्यारा ही बन गया। नेताओं को लोग दूरबीन और खुर्द-बीन से देखने लग गये। एक ओर चरित्र की पूछ-ताछ बढ़ गई, तो दूसरी ओर उसके साथ-साथ पाखण्ड भी बढ़ा। स्वार्थ में वृद्धि हुई, पर त्याग भी बढ़ा। शान्त सरोवर में गांधीवाद की मथनी ने पानी को बिलो डाला। उसमें से अमृत भी निकला और विष भी। उसमें से देवासुर-संग्राम भी निकला। गांधीजी ने न मालूम कितनी बेर विष की कड़वी घूँटें पीं और शिव की तरह नीलकंठ बने। संग्राम तो अभी जारी ही है और सुरों की विजय अन्त में अवश्यम्भावी है, यह आशा लिये लोग बैठे हैं। पर जिस समय की मैं बातें कर रहा हूँ, उस समय यह सब कुछ न था। सरोवर का पानी शान्त था। ऊषा की लालिमा शान्त भाव से गगन में विद्यमान थी; पर सूर्य्योदय अभी नहीं हुआ था। पुनर्जन्म की तैयारी थी; पर या तो नये जन्म से पहले की मृत्यु का सन्नाटा था या प्रसव-वेदना के

बाद की सुषुप्ति-जनित शांति। न नेताओं को पाखण्ड में आत्मग्लानि थी, न अनुयायी ही इस चीज़ को वैसी बुरी नज़र से देखते थे।

ऐसे समय में गांधीजी अफ्रीका से लन्दन होते हुए स्वदेश लौटे और सारे हिन्दुस्तान का दौरा शुरू किया। कलकत्ते में भी उसी सिलसिले में उनके आगमन की तैयारी थी।

मुझे याद आता है कि गांधीजी के प्रथम दर्शन ने मुझमें काफ़ी कौतूहल पैदा किया। एक सादा सफ़ेद अंगरखा, धोती, सिर पर काठियावाड़ी फैंटा, नंगे पाँव, यह उनकी वेशभूषा थी। हम लोगों ने बड़ी तैयारी से उनका स्वागत किया; उनकी गाड़ी को हाथ से खींचकर उनका जुलूस निकाला। पर स्वागतों में भी उनका ढंग निराला ही था। मैं उनकी गाड़ी के पीछे साईस की जगह खड़ा होकर 'कर्मवीर गांधी की जय' गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहा था। गांधीजी के साथी ने, जो उनकी बगल में बैठा था, मुझसे कहा : "**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**" ऐसा पुकारो। गांधीजी इससे प्रसन्न होंगे।" मैंने भी अपना राग बदल दिया।

पर मालूम होता था, गांधीजी को इन सब चीज़ों में कोई रस न था। उनके व्याख्यान में भी एक तरह की

**बस**

नीरसता थी। न जोश था, न कोई अस्वाभाविकता थी, न उपदेश देने की व्यास-वृत्ति थी। आवाज़ में न चढ़ाव था, न उतार। बस एक तार था, एक तर्ज़ थी। पर इस नीरसता के नीचे दबी हुई एक चमक थी, जो श्रोताओं पर छाप डाल रही थी।

मुझे याद आता है कि कलकत्ते में उन्होंने जितने व्याख्यान दिये—शायद कुल पाँच व्याख्यान दिये होंगे—वे प्रायः सभी हिन्दी भाषा में दिये। सभी व्याख्यानों में उन्होंने गोखले की जी-भरकर प्रशंसा की। उन्हें अपना राजनैतिक गुरु बताया और यह भी कहा कि श्रीगोखले की आज्ञा है कि मैं एक साल देश में भ्रमण करूँ, अनुभव प्राप्त करूँ और इसके पीछे सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करूँ। इसलिए जबतक मुझे सम्यक् अनुभव नहीं होजाता तबतक मैं किसी विषय पर अपनी पक्की राय क़ायम करना नहीं चाहता। नौजवानों को गोखले का ढंग नापसन्द था, क्योंकि वह होश की, न कि जोश की, बातें किया करते थे, जो उस समय के नौजवानों की शिक्षा-दीक्षा से कम मेल खाती थीं। लोकमान्य लोगों के आराध्य देव और गोखले उपहास्य देव थे। इसलिए हम सभी नौजवानों को गांधीजी का बार-बार गोखले को अपना राजनैतिक गुरु बताना खटका।

पर तो भी गांधीजी का उठने-बैठने का ढंग, उनका सादा भोजन, सादा रहन-सहन, विनम्रता, कम बोलना, इन सब चीज़ों ने हमलोगों को एक मोहिनी में डाल दिया। नये नेता की हम लोग कुछ थाह न लगा सके।

मैंने उन दिनों गांधीजी से पूछा कि क्या किसी सार्वजनिक मसले पर आपसे ख़तोकिताबत हो सकती है? उन्होंने कहा, 'हाँ।' मुझे यह विश्वास नहीं हुआ कि किसी पत्र का उत्तर एक नेता इतनी जल्दी दे सकता है। वह भी मेरे-जैसे एक अनजान साधारण नौजवान को। पर इसकी परीक्षा मैंने थोड़े ही दिनों बाद करली। उत्तर में तुरन्त एक पोस्टकार्ड आया, जिसमें पैसे की किफ़ायत तो थी ही, भाषा की भी काफ़ी किफ़ायत थी।

पता नहीं कितने नौजवानों पर गांधीजी ने इस तरह छाप डाली होगी, कितनोंको उलझन में डाला होगा, कितनों के लिए वह कौतूहल की सामग्री बने होंगे! पर १९१५ में जिस तरह वह लोगों के लिए पहेली थे, वैसे ही आज भी हैं।

## ३

१९३२ के सत्याग्रह की समाप्ति के बाद लार्ड विलिंग्डन पर एक मर्तबा, शायद १९३४ की बात है, मैंने ज़ोर डाला कि आप इस तरह गांधीजी से दूर न भागें, उनसे मिलें, उनको समझने की कोशिश करें, इसीमें भारत और इंग्लिस्तान दोनों का कल्याण है। पर वाइसराय पर इसका कोई असर न हुआ। उन्हें भय था कि गांधीजी उन्हें कहीं फाँस न लें। वह मानते थे कि गांधीजी का विश्वास नहीं किया जा सकता। मुझे मालूम है कि भारत-मंत्री ने भी वाइसराय पर गांधीजी से मेल-जोल करने के लिए ज़ोर डाला था, पर सारी क्रिया निष्फल गई। जिस मेल-मिलाप का अमल-दरामद अरविन के जाने के बाद टूटा, वह लिनलिथगो के आनेतक न सध सका।

जिन गांधीजी पर मेरी समझ में निर्भय होकर विश्वास किया जा सकता है, उनके प्रति वाइसराय विलिंग्डन का विश्वास न था! वाइसराय ने कहा, "वह इतने चतुर हैं, बोलने में इतने मीठे हैं, उनके शब्द इतने द्विअर्थी होते हैं

कि जबतक मैं उनके वाक्पाश में पूरा फँस न चुकूँगा, तबतक मुझे पता भी न लगेगा कि मैं फँस गया हूँ। इसलिए मेरे लिए निर्भय मार्ग तो यही है कि मैं उनसे न मिलूँ, उनसे दूर ही रहूँ।" मेरे लिए यह अचम्भे की बात थी कि गांधीजी के बारे में किसीके ऐसे विचार भी हो सकते हैं। पर पीछे मालूम हुआ कि ऐसी श्रेणी में वाइसराय अकेले ही न थे, और भी कई लोगों को ऐसी शंका रही है।

अमरीका के एक प्रतिष्ठित ग्रन्थकार श्रीगुंथर ने गांधीजी के बारे में लिखा है :

"महात्मा गांधी में ईसामसीह, चाणक्य और बापू का अद्भुत सम्मिश्रण है। बुद्ध के बाद वह सबसे महान् व्यक्ति हैं। उनसे अधिक पेचदार पुरुष की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो किसी तरह पकड़ में नहीं आ सकते। यह मैं कुछ अनादर भाव से नहीं कह रहा हूँ। एक ही साथ महात्मा, राजनीतिज्ञ, अवतार और प्रतापी अवसरवादी होना, यह मानवी नियमों का अपवाद या अवज्ञा है। उनकी ज़रा असंगतियों का तो खयाल कीजिए। एक तरफ़ तो गांधीजी का अहिंसा और असहयोग में दृढ़ विश्वास; और दूसरी ओर इंग्लिस्तान को युद्ध में सहायता देना! उन्होंने नैतिक दृष्टि से क़ैद-खाने में उपवास किये, पर वे उपवास ही उनकी जेल-

मुक्ति के साधन भी बने, यद्यपि उनको इस परिणाम से कोई गरज़ नहीं थी। जबतक आप यह न समझलें कि वह सिद्धान्त से कभी नहीं हटते, चाहे छोटी-मोटी विगतों पर कुछ इधर-उधर हो जायें, तबतक उनकी असंगतियाँ बेतरह अखरती हैं। इंग्लिस्तान से असहयोग करते हुए भी आज गांधीजी से बढ़कर इंग्लिस्तान का कोई मित्र नहीं। आधुनिक विज्ञान से उन्हें सूग-सी है, पर वह थर्मामीटर का उपयोग करते हैं और चश्मा लगाते हैं। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य चाहते हैं, पर इनका लड़का थोड़े दिनों के लिए धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान बन गया था, इससे इन्हें चोट लगी। कांग्रेस के वह प्राण हैं, उसके मेरुदण्ड हैं, उसकी आँखें हैं, उसके हाथ-पाँव हैं; पर कांग्रेस के वह चार आनेवाले मेम्बर भी नहीं। हर चीज़ को वह धार्मिक दृष्टि से देखते हैं; पर उनका धर्म क्या है, इसका विवरण कठिन है। इससे ज्यादा और गोरखधंधा क्या हो सकता है? फिर भी सत्य यही है कि गांधीजी एक महान् व्यक्ति हैं, जिनका जीवन शुद्ध शौर्य की प्रतिमा है।"

इसमें कोई शक नहीं कि गांधीजी परस्पर-विरुद्ध-धर्मी गुणों के एक खासे सम्मिश्रण हैं। वह **"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि"** हैं। अत्यन्त सरल, फिर भी

अत्यन्त दृढ़; अतिशय कंजूस, पर अतिशय उदार हैं। उनके विश्वास की कोई सीमा नहीं; पर मैंने उन्हें बेमौक़े अविश्वास भी करते पाया है। गांधीजी एक कुरूप व्यक्ति हैं जिनके शरीर, आँखों और हरएक अवयव से दैवी सौन्दर्य और तेज की आभा टपकती है। उनकी खिल-खिलाहट ने न मालूम कितने लोगों को मोहित कर दिया। उनका बोलने का तरीक़ा बोदा होता है, पर उसमें कोई मोहिनी होती है जिसे पी-पीकर हज़ारों प्रमत्त होगये।

गांधीजी को शब्दांकित करना, यह दुष्कर प्रयास है। कोई पूछे कि कौन-सी चीज़ है जिसने गांधीजी को महात्मा बनाया, तो उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करने पर भी शायद सफलता न मिले। बात यह है कि गांधीजी, जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, इतने परस्पर-विरुद्ध और समान सम्मिश्रणों के पुतले हैं कि पूरा विश्लेषण करना एक कठिन प्रयत्न है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ये सब चीजें हैं, जिनकी सारी शक्ति ने गांधीजी को बड़ा बनाया। गांधीजी को आदमी उनसे सम्बन्धित साहित्य को पढ़कर तो जान ही नहीं सकता, पास में रहकर भी सम्यक् नहीं जान सकता।

गांधीजी का जीवन एक बृहत् दैवी जुलूस है, जिसने उनके होश सँभालते ही गति पाई, जो अब भी द्रुतगति

लेखक : गांधीजी के साथ अपनी ४६वीं वर्षगांठ पर : रामनौमी : संवत् १९९६

से चलता ही जा रहा है और मृत्युतक लगातार चलता ही रहेगा। इस जुलूस में न मालूम कितने दृश्य हैं, न मालूम कितने अंग हैं। पर इन सब दृश्यों का, इन सब अंगों का एक ही ध्येय है और एक ही दिशा में वह जुलूस लगन के साथ चला जा रहा है। हर पल उस जुलूस को अपने ध्येय का ज्ञान है, हर पल उग्र प्रयत्न जारी है, और हर पल वह अपने ध्येय के निकट पहुँच रहा है।

किसीने गांधीजी को केवल 'बापू' के रूप में ही देखा है, किसीने महात्मा के रूप में, किसीने एक राजनैतिक नेता के रूप में और किसीने एक बागी के रूप में।

गांधीजीने सत्य की साधना की है। अहिंसा का आचरण किया है। ब्रह्मचर्य का पालन किया है। भगवान् की भक्ति की है। हरिजनों का हित साधा है। दरिद्रनारायण की पूजा की है। स्वराज्य के लिए युद्ध किया है। खादी-आंदोलन को अपनाया है। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए अथक और अकथ प्रयत्न किया है। प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग किये हैं। गोवंश के उद्धार की योजना की है। भोजन के सम्बन्ध में स्वास्थ्य और अध्यात्म की दृष्टि से अन्वेषण किये हैं। ये सब चीज़ें गांधीजी की अंग बन गई हैं। इन सारी चीज़ों का एकीकरण जिसमें समाप्त होता है, वह गांधी है।

"मेरा जीवन क्या है—यह तो सत्य की एक प्रयोग-शाला है। मेरे सारे जीवन में केवल एक ही प्रयत्न रहा है—वह है मोक्ष की प्राप्ति, ईश्वर का साक्षात् दर्शन। मैं चाहे सोता हूँ या जागता हूँ, उठता हूँ या बैठता हूँ, खाता हूँ या पीता हूँ, मेरे सामने एक ही ध्येय है। उसीको लेकर मैं ज़िन्दा हूँ। मेरे व्याख्यान या लेख और मेरी सारी राजनैतिक हलचल, सभी उसी ध्येय को लक्ष्य में रखकर गति-विधि पाते हैं। मेरा यह दावा नहीं है कि मैं भूल नहीं करता। मैं यह नहीं कहता कि मैंने जो किया वही निर्दोष है। पर मैं एक दावा अवश्य करता हूँ कि मैंने जिस समय जो ठीक माना, उस समय वही किया। जिस समय मुझे जो 'धर्म' लगा, उससे मैं कभी विचलित नहीं हुआ। मेरा पूर्ण विश्वास है कि सेवा ही धर्म है और सेवा में ही ईश्वर का साक्षात्कार है।"

गांधीजी का जीवन क्या है, इसपर उनकी उपरोक्त उक्ति काफ़ी प्रकाश डालती है। ये बड़े बोल हैं, जो एक प्रकाश-पुंज से प्लावित व्यक्ति ही अपने मुहँ से निकाल सकता है, पर—

> **"न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।**
> **कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥"**

ये क्या कम बड़े बोल थे?

## ४

मैंने एक बार कौतुकवश गांधीजी से प्रश्न किया कि आप अपने कौन-से कार्य के सम्बन्ध में यह कह सकते हैं कि 'बस, यह मेरा काम मेरे सारे कामों का शिखर है ?'

गांधीजी इसका उत्तर तुरन्त नहीं दे सके। उन्हें एक पल—बस एक ही पल—ठहरना पड़ा, क्योंकि वह सहसा कोई उत्तर नहीं दे सकते थे। समुद्र से पूछो कि कौन-सा ऐसा विशेष जल है, जिसने आपको सागर बनाया, तो समुद्र क्या उत्तर देगा ? गांधीजी ने कहा, "सबसे बड़ा काम कहो तो खादी और हरिजन-कार्य।" मुझे यह उत्तर कुछ बहुत पसन्द नहीं आया, इसलिए मैंने अपना सुझाव पेश किया। "और अहिंसा ? क्या आपकी सबसे बड़ी देन अहिंसा नहीं है ?" "हाँ, है तो, पर यह तो मेरे हर काम में ओतप्रोत है। पर यदि समष्टि-अहिंसा से व्यष्टि कार्य का भेद करो, तो कहूँगा—खादी और हरिजन-कार्य, ये मेरे श्रेष्ठतम कार्य हैं। अहिंसा तो मानों मेरी माला के मनकों में धागा है, जो मेरे सारे कामों में ओतप्रोत है।"

हरिजन-कार्य अत्यन्त महान् हुआ है, इसमें कोई शक नहीं। उनको यह चटक कब लगी, यह कोई नहीं बता सकता। पर जब यह बारह साल के थे, तभी इस विषय में इनका हृदय-मन्थन शुरू हो गया था। इनके मेहतर का नाम ऊका था। वह पाखाना साफ़ करने आया करता था। इनकी माँ ने इनसे कहा, "इसे मत छूना।" पर गांधीजी को इस अछूतपन में कोई सार नहीं लगा। अछूतपन अधर्म है, ऐसा इनका विश्वास बढ़ने लगा था। उस समय के इनके बचपन के ख़यालात से ही पता लग जाता है कि इन्हें अछूतपन हिन्दू-धर्म में एक असह्य कलंक लगता था। जब इन्हें हिन्दू-धर्म में पूर्ण श्रद्धा नहीं थी, तब भी अछूतपन के कारण इन्हें काफ़ी वेदना होती थी। यही संस्कार थे कि जिनके कारण आज से चालीस वर्ष पहले जब राजकोट में प्लेग चला और इन्होंने जन-सेवा का कार्य-भार अपने ऊपर लिया, तब अछूत-बस्ती का तुरन्त निरीक्षण किया। उस ज़माने में इनके साथियों के लिए इनका यह कार्य अनोखा था, पर हरिजन-सेवा के यह बीज उस समय तक अंकुरित हो चुके थे, जो फिर समय पाकर पनपते ही गये। और उस सेवा-वृक्ष की प्रचण्डता तो हरिजन-उपवास के समय ही प्रत्यक्ष हुई। हरिजन-उपवास तो क्या था, हिन्दू-समाज को छिन्न-भिन्न

होने से बचाने का एक ज़बर्दस्त प्रयत्न था और उसमें गांधीजी को पूर्ण सफलता मिली।

एक भीषण षड्यंत्र था कि पाँच करोड़ हरिजनों को हिन्दू-समाज से पृथक् कर दिया जाये। इस षड्यंत्र में बड़े-बड़े लोग शरीक थे, इसका पता कुछ ही लोगों को था। गांधीजी इससे परिचित थे। उन्होंने द्वितीय गोलमेज-परिषद् में ही अपने व्याख्यान में कह दिया था कि हरिजनों की रक्षा के लिए वह अपनी जान लड़ा देंगे। इस मर्मस्पर्शी चुनौती का उस समय किसीने इतना गम्भीर अर्थ नहीं निकाला। पर गांधीजी ने तो अपना निर्णय उसी समय घड़ डाला था। इसलिए प्रधानमन्त्री ने जब अपना हरिजन-निर्णय प्रकट किया तब, गांधीजी ने हरिजन-रक्षा के लिए सचमुच ही अपनी जान लड़ा दी। इस प्रकार गांधीजी ने आमरण उपवास करके हिन्दू-समाज और हरिजन दोनों को उबार लिया। अहिंसात्मक शस्त्र का यह प्रयोग बड़ी सफलता के साथ कारगर हुआ। इसमें उनकी कोई राजनैतिक चाल नहीं थी, हालाँकि इसका राजनैतिक फल भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था। पर उनकी मंशा तो केवल धार्मिक थी।

"हरिजनों को हमने बहुत सताया है। हम अपने पापों का प्रायश्चित्त करके ही उनसे उऋण हो सकते हैं"—इस

मनोवृत्ति में धर्म और अर्थ दोनों आजाते हैं। पर धर्म मुख्य था, अर्थ गौण। इसका असर व्यापक हुआ। हिन्दू-समाज के टुकड़े होते-होते बच गये। षड्यंत्र बेकार हुआ। जिन्हें इस षड्यंत्र का पता नहीं, उनके लिए हरिजन-कार्य की गुरुता का अनुमान लगाना मुश्किल है। खादी को भी गांधीजी ने वही स्थान दिया, जो हरिजन-कार्य को। इसको समझना आज ज़रा कठिन है, पर शायद फिर कभी यह भी स्पष्ट हो जाये।

"और अहिंसा ?—क्या आपकी सबसे बड़ी देन अहिंसा नहीं है ?" "हाँ है, पर यह तो मेरे काम में ओतप्रोत है। अहिंसा तो मानों मेरी माला के मनकों में धागा है।" यह प्रश्नोत्तर क्या है, गांधीजी की जीवनी का सूत्र-रूप में वर्णन है। सत्य कहो या अहिंसा, गांधीजी के लिए ये दोनों शब्द क़रीब-क़रीब पर्यायवाची हैं। इसी तरह सत्य और ईश्वर भी उनके पर्यायवाची शब्द हैं। पहले वह कहते थे कि ईश्वर सत्य है, अब कहते हैं कि सत्य ही ईश्वर है। अहिंसा यदि सत्य है और सत्य अहिंसा है, और ईश्वर यदि सत्य है और सत्य ईश्वर है, तो यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर अहिंसा है और अहिंसा ईश्वर है। चूँकि सत्य, अहिंसा और ईश्वर इन तीनों की सम्पूर्ण प्राप्ति शायद मानव-जीवन में असम्भव है, इस-

लिए गांधीजी तीनों को एक ही सिंहासन पर बिठाकर तीनों की एक ही साथ पूजा करते हैं।

परिणाम यह हुआ कि प्राणवायु जैसे शरीर की तमाम क्रियाओं को जीवन देती है, वैसे ही गांधीजी की अहिंसा उनके सारे कामों का प्राण हो गई है। कितने प्रवचन गांधीजी ने इस विषय पर दिये होंगे; कितने लेख लिखे होंगे! फिर भी कितने आदमी उनके तात्पर्य को समझे? और कितनों ने समझकर उसे हृदयंगम किया? कितनों ने उसे आचरण में लाने की कोशिश की? और कितने सफल हुए? और दूसरी ओर, गांधीजी की अहिंसा-नीति व्यंग का भी कम शिकार न बनी। कुतर्कों की कमी न रही। पर इन सबके बीच ऐसे प्रश्न भी उपस्थित होते ही हैं, जो सरल भाव से शंकास्पद लोगों द्वारा केवल समाधान के लिए ही किये जाते हैं।

"अहिंसा तो संन्यासी का धर्म है। राजधर्म में अहिंसा का क्या काम? हम अपनी धन-सम्पत्ति की रक्षा अहिंसा द्वारा कैसे कर सकते हैं? क्या कभी सारा समाज अहिंसात्मक बन सकता है? यदि नहीं, तो फिर थोड़े-से आदमियों के अहिंसा धारण करने से उसकी उपयोगिता का महत्त्व क्या? अहिंसा का उपदेश क्या कायरता की वृद्धि नहीं करता? और गांधीजी के बाद अहिंसा की क्या

प्रगति होगी ?''

ऐसे-ऐसे प्रश्न रोज़ किये जाते हैं। गांधीजी उत्तर भी देते हैं, पर प्रश्न जारी ही हैं। क्योंकि यदि हम केवल जिज्ञासा ही करते रहें और आचरण का प्रयत्न भी न करें, तो फिर शंका का समाधान भी क्या हो सकता है ? गुड़ का स्वाद भी तो आख़िर खाने से ही जाना जाता है।

''हाँ, अहिंसा तो संन्यासी का धर्म है। राजधर्म में तो हिंसा, छल-कपट सब विहित हैं। हम निःशस्त्र होकर आततायी का मुक़ाबला करें तो वह हमें दबा लेगा, हमारी हार होगी और आततायी की जीत। **''आततायी वधार्हः''** **''आततायिनमायांतं हन्यादेवाविचारयन्''** यह शास्त्रों के वचन हैं।

**''अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिः धनापहः।**
**क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते आततायिनः॥''**

ये सब कुकर्मी आततायी हैं। इन्हें मारना ही चाहिए। यदि हम आततायी को दण्ड न दें तो संसार में जुल्म की वृद्धि होगी, सन्तजनों के कष्ट बढ़ेंगे, अधर्म की वृद्धि और धर्म का ह्रास होगा।''

ऐसी दलीलें रोज़ सामने आती हैं। पर आश्चर्य तो यह है कि ऐसे तार्किक कोई राजा-महाराजा या राजधर्मी मनुष्य हों सो नहीं। जज का क्या धर्म है, इसकी चर्चा

रास्ते चलनेवाले मनुष्य क्वचित् ही करते सुने जाते हैं। फिर भी रास्ते चलते आदमी अपने को राजधर्म का अधिकारी क्यों मान लेते हैं? यदि जज किसीको फाँसी की सज़ा दे सकता है, तो क्या रास्ते चलनेवाले सभी आदमी फाँसी की सज़ा देने के अधिकारी हो सकते हैं? कोई तार्किक तर्क करने से पहले अपने-आप से ऐसा प्रश्न नहीं करता। और हमारा विपक्षी ही आततायी है, हम तो दण्ड देने के ही अधिकारी हैं, ऐसा भी हम सहज ही क्यों मान लेते हैं? आततायी यदि हमीं हों तो फिर क्या?

हिटलर कहता है, चर्चिल आततायी है; चर्चिल कहता है, हिटलर आततायी है। परस्पर का यह आरोप पूरी सरगर्मी के साथ जारी है। अब दोनों ही अपने आपको दण्ड देने का अधिकारी मानते हैं, ऐसी स्थिति में निर्णय तो तटस्थ पुरुष ही कर सकता है। पर तटस्थ पुरुष की बात दोनों-के-दोनों यदि स्वीकार करें, तो फिर दण्ड देने या लेने का सवाल ही नहीं रहता।

बात तो यह है कि अक्सर हम अपनी हिंसा-वृत्ति का पोषण करने के लिए ही प्रमाण का सहारा ढूँढ़ते हैं। **"आततायिनमायांतं हन्यादेवाविचारयन्"** का उपयोग अपने विपक्षी के लिए ही हम करते हैं। ऐसा तो कोई नहीं कहता कि मैं आततायी हूँ, इसलिए मेरा वध किया

जाये। ऐसा कोई कहे तब तो तर्क में जान आजाये। पर **"मो सम कौन कुटिल खल कामी"**—ऐसा तो सूरदास ने ही कहा। यदि हम विपक्षी के दुर्गुणों की अवगणना करके अपने दोषों का आत्म-निरीक्षण ज्यादा जाग्रत होकर करें, तो संसार का सारा पाप छिप जाये।

धन-सम्पत्ति-संग्रह, माल-जायदाद इत्यादि की रक्षा क्या अहिंसा से हो सकती है? हो भी सकती है और नहीं भी। जो लोग निजी उपयोग के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, संभव नहीं कि वे अहिंसा-नीति के पात्र हों। अहिंसा यदि कायरता का दूसरा नाम नहीं, तो फिर सच्ची अहिंसा वह है, जो अपने स्वार्थ के लिए संग्रह करना नहीं सिखाती। अहिंसक को लोभ कहाँ? ऐसी हालत में अहिंसक को अपने लिए संग्रह करने की या रक्षा करने की आवश्यकता ही नहीं होती। योग-क्षेम के झगड़े में शायद ही अहिंसा का पुजारी पड़े।

**"निर्योगक्षेम आत्मवान्"**—गीता ने यह धर्म अर्जुन-जैसे गृहस्थ व्यक्ति का बताया है। यह तो संन्यासी का धर्म है—ऐसा गीता ने नहीं कहा। गीता संन्यास नहीं, कर्म सिखाती है, जो गृहस्थ का धर्म है। अहिंसावादी का भी शुद्ध धर्म उसे योग-क्षेम के झगड़े से दूर रहना सिखाता है। पर संग्रह करना और उसकी रक्षा करना 'स्व' और

'पर' दोनों के लाभ के लिए हो सकता है। जो 'स्व' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे अहिंसा-धर्म की पात्रता सम्पादन नहीं कर सकते। जो 'पर' के लिए संग्रह लेकर बैठे हैं, वे गांधीजी के शब्दों में 'ट्रस्टी' हैं। वे अनासक्त होकर योग-क्षेम का अनुसरण कर सकते हैं। वे संग्रह रखते हुए भी अहिंसावादी हैं, क्योंकि उन्हें संग्रह में कोई राग नहीं। धर्म के लिए जो संग्रह है, वह धर्म के लिए अनायास छोड़ा भी जा सकता है और उसकी रक्षा का प्रश्न हो तो वह तो धर्म से ही की जा सकती है, पाप से नहीं। इसके विपरीत, जो लोग संग्रह में आसक्त हैं वे न तो अहिंसात्मक ही हो सकते हैं, न फिर अहिंसा से धन की रक्षा का प्रश्न ही उनके सम्बन्ध में उपयुक्त है। पर यह संभव है कि ऐसे लोग हों जो पूर्णतः अहिंसात्मक हों, जो सब तरह से पात्र हों और अपनी आत्मशक्ति द्वारा, यदि उन्हें ऐसा करना धर्म लगे तो, किसीके संग्रह की भी वे रक्षा कर सकें।

पर यह कभी न भूलना चाहिए कि अहिंसक और हिंसक मार्ग की कोई तुलना है ही नहीं। दोनों के लक्ष्य ही अलग-अलग हैं। जो काम हिंसा से सफलतापूर्वक हो सकता है—चाहे वह सफलता क्षणिक ही क्यों न हो—वह अहिंसा से हो ही नहीं सकता। मसलन् हम अहिंसात्मक

उपायों से साम्राज्य नहीं फैला सकते, किसीका देश नहीं लूट सकते। इटली ने अबीसीनिया में जो अपना साम्राज्य-स्थापन किया, वह तो हिंसात्मक उपायों द्वारा ही हो सकता था।

इसके माने यह हैं कि अहिंसा से हम धर्म की रक्षा कर सकते हैं, पाप की नहीं। और संग्रह यदि पाप का दूसरा नाम है, तो संग्रह की भी नहीं। अहिंसा में जिन्हें रुचि है, वे पाप की रक्षा करना ही क्यों चाहेंगे? अहिंसा का यह मर्यादित क्षेत्र यदि हम हृदयंगम करलें, तो इससे बहुत-सी शंकाओं का समाधान अपने-आप हो जायेगा। बात यह है कि जिस चीज़ की हम रक्षा करना चाहते हैं वह यदि धर्म है, तब तो अहिंसात्मक विधियों से विपक्षी का हम सफलतापूर्वक मुक़ाबला कर सकते हैं। और यदि वह पाप है, तो हमें स्वयं उसे त्याग देना चाहिए और ऐसी हालत में प्रतिकार का प्रश्न ही नहीं रहता।

यह निर्णय फिर भी हमारे लिए बाक़ी रह जाता है कि "धर्म क्या है, अधर्म क्या है?" पर धर्माधर्म के निर्णय में सत्य के अनुयायी को कहाँ कठिनता हुई है?

**"जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ;**
**मैं बौरी ढूंढ़न गई, रही किनारे बैठ।"**

असल बात तो यह है कि जब हम धर्म की नहीं, पाप

की ही रक्षा करना चाहते हैं, और चूँकि अहिंसा से पाप की रक्षा नहीं हो सकती, तब अहिंसा के गुण-प्रभाव में हमें शंका होती है और अनेक तर्क-वितर्क उपस्थित होते हैं।

राजनीति में अहिंसा के प्रवेश से यह उलझन इसलिए बढ़ गई है कि राजनीति का चित्र हमने वही खींचा है, जो यूरोप की राजनीति का हमारे सामने उपस्थित है। जातीयता का अभिमान, जातियों में परस्पर वैरभाव, दूसरे देशों को दबा लेने का लोभ, हमारा उत्थान दूसरों के नाश से ही हो सकता है, ऐसा भ्रम, उससे प्रभावान्वित होकर सीमा की मोर्चाबन्दी करना और नाना प्रकार के मारण-जारण शस्त्रास्त्रों की पैदाइश बढ़ाना। घर के भीतर भी वही प्रवृत्ति है, जो बाहर के देशों के प्रति है। ऐसी हालत में अहिंसा हमारा शस्त्र हो या हिंसा, इसका निर्णय करने से पहले तो हमें यह निर्णय करना होगा कि हमें चाहे व्यक्ति के लिए, चाहे समाज के लिए शुद्ध धर्म का मार्ग ही अनुसरण करना है, या पाप का? अपनी राजनीति हम मानवता की विस्तृत बुनियाद पर रचना चाहते हैं या कुछ लोगों के स्वार्थ की संकुचित भित्ति पर? फिर चाहे वे कुछ लोग हमारे कुटुम्ब के हों या क़बीले के, या प्रान्त के या देश के।

यूरोप में ऐसे कई सच्चे त्यागी हैं, जो निजी जीवन में केवल सत्य का ही व्यवहार करते हैं। पर जहाँ स्वदेश के हानि-लाभ का प्रश्न उठता है वहाँ सत्य, ईमानदारी, भलमनसाहत, सारी चीज़ों को तिलांजलि देने में नहीं हिचकते। उनके लिए—यदि वे अहिंसा धारण करना चाहें तो—एक ही मार्ग होगा—पापवृत्ति का त्याग, चाहे वह निजी स्वार्थ के लिए हो या स्वदेश के लिए। उनके लिए स्वदेश की कोई सीमा नहीं।

**"अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।**
**उदारचरितानांतु वसुधैव कुटुम्बकम्॥"**

ईश्वर की सारी सृष्टि उनके लिए स्वदेश है। दैवी संपदा की स्थापना और आसुरी का ह्रास, यह उनका ध्येय है।

गांधीजी इसीलिए आत्म-शुद्धि पर बार-बार ज़ोर देते हैं। यह ठीक भी है, क्योंकि अहिंसा-शस्त्र का संचालन बाहर की वस्तुओं पर नहीं, भीतर की वृत्तियों पर अवलम्बित है। फूटी हुई बन्दूक में गोली भरकर चलाओ, तो क्या कभी निशाने पर जा सकती है? वैसे ही, जो मनुष्य शुद्ध हृदयवाला नहीं है, दैवी संपदावाला नहीं है, वह अहिंसा के शस्त्र को क्या उठायेगा? असल में तो शुद्ध मनुष्य स्वयं ही शस्त्र है और स्वयं ही उसका चालक

है। यदि आत्मशुद्धि नहीं है, आसुरी संपदावाला है, तो उसकी हालत फूटी बन्दूक जैसी है। उसके लिए अहिंसा के कोई माने नहीं। अहिंसक में ही अहिंसा रह सकती है। अहिंसा धारण करने से पहले मनुष्य को अहिंसक बनना है। और अहिंसक का संकुचित अर्थ भी किया जाये, तो वह यह है कि न्यायपूर्वक चलनेवाला नागरिक।

"क्या सारा समाज अहिंसात्मक हो सकता है? यदि नहीं, तो फिर इसका व्यावहारिक महत्त्व क्या?" यह भी प्रश्न है। पर गांधीजी कहाँ यह आशा करते हैं कि सारा समाज हिंसा का पूर्णतया त्याग कर देगा? उनकी व्यूह-रचना इस बुनियाद पर है ही नहीं कि सारा समाज अहिंसा-धर्म का पालन करने लग जाये। उनकी यह आशा अवश्य है कि समाज का एक बृहत् अंग हिंसा की पूजा करना तो कम-से-कम छोड़दे, चाहे फिर वह आचरणों में पूर्ण अहिंसावादी न भी हो सके।

यह आशा नहीं की जाती कि समाज का हर मनुष्य पूर्ण अहिंसक होगा। पर जहाँ हिंसक फ़ौज के बल पर शान्ति और साम्राज्य की नींव डाली जाती है, वहाँ भी यह आशा नहीं की जाती कि हर मनुष्य युद्धकला में निपुण होगा। करोड़ों की बस्तीवाले मुल्क की रक्षा के लिए कुछ थोड़े लाख मनुष्य काफ़ी समझे जाते हैं। सौ

में एक मनुष्य यदि सिपाही हो तो पर्याप्त माना जाता है। फिर उन सिपाहियों में से भी जो ऊपरी गणनायक होते हैं, उन्हींकी निपुणता पर सारा व्यवहार चलता है।

आज इंग्लिस्तान में कितने निपुण गणनायक होंगे, जो फ़ौज के संचालन में अत्यन्त दक्ष माने जाते हैं? शायद दस-बीस। पर बाक़ी जो लाखों की फ़ौज है, उससे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उसमें अपने अफ़सरों की आज्ञा पर मरने की शक्ति हो। इसी उदाहरण के आधार पर हम एक अहिंसात्मक फ़ौज की भी कल्पना कर सकते हैं। अहिंसात्मक फ़ौज के जो गणनायक हों उनमें पूर्ण आत्मशुद्धि हो, जो अनुयायी हों वे श्रद्धालु हों, और चाहे उनमें इतना तीक्ष्ण विवेक न हो, पर उनमें सत्य-अहिंसा के लिए मरने की शक्ति हो। इतना यदि है, तो काफ़ी है। इस हिसाब से अहिंसात्मक फ़ौज बिल्कुल अव्यावहारिक चीज़ साबित नहीं होती।

हाँ, यदि हमारी महत्त्वाकांक्षा साम्राज्य फैलाने की है, यदि हमारी आँखें दूसरों की सम्पत्ति पर गड़ी हैं, यदि भूखे पड़ोसियों के प्रति हमें कोई हमदर्दी नहीं है, हम अपने ही स्वार्थ में रत रहकर भोगों के पीछे पड़े हुए हैं, या अपने ही भोगों को सुरक्षित रखना चाहते हैं, तो अहिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है।

गन्दे कपड़े की गन्दगी की यदि हम रक्षा करना चाहते हैं तो पानी और साबुन का क्या काम ? वहाँ तो कीचड़ की ज़रूरत है। गन्दगी रोग पैदा करती है, मृत्यु को समीप लाती है, इसका हमें ज्ञान है। इसलिए हम गन्दगी की रक्षा करना चाहते हैं तो हम दया के पात्र हैं। अहिंसा का पोषक हमें हमारी भूल से बचाने का प्रयत्न करेगा; पर हमारी गन्दगी का पोषण कभी नहीं करेगा, हम चाहे उसके स्वदेशवासी क्या, उसकी सन्तान ही क्यों न हों।

अहिंसा को राजनीति में गांधीजी ने जान-बूझकर प्रविष्ट किया है, क्योंकि राजनीति में अधर्म विहित है, ऐसा मानकर हम आत्मवंचना करते थे। हम उलझन में इसलिए पड़ गये हैं कि जहाँ हम गन्दगी का पोषण करना चाहते थे, वहाँ गांधीजी ने हमें पानी और साबुन दिया है। हम हैरान हैं कि पानी और साबुन से हमारी गन्दगी की रक्षा कैसे हो सकती है। और यह हैरानी सच्ची है; क्योंकि गन्दगी की रक्षा किसी हालत में न होगी। बस, यही उलझन है, यही पहेली है और इसी ज्ञान में शंका का समाधान है।

अहिंसा कहो, सत्य कहो, या मोक्ष भी कहो, ये ऐसी वस्तुएँ नहीं हैं कि सम्पूर्णतया जबतक इन चीज़ों

की प्राप्ति न हो तबतक ये बेकार हैं। दरअसल जीवन में इन चीज़ों की सम्पूर्णतया प्राप्ति असंभव है। इतना ही कहा जा सकता है कि **"अधिकस्य अधिकं फलम्"** और **"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्"**—इसलिए ऐसी बात नहीं है कि बन्दूक की गोली दुश्मन के शरीर पर लगी तो सफल, वरना बेकार। यहाँ तो हार-जैसी कोई चीज़ ही नहीं है। जितनी भी आत्म-शुद्धि हुई, उतना ही फल।

गांधीजी सत्य और अहिंसा का उपदेश देकर प्रकारांतर से लोगों को अच्छे नागरिक बनने का उपदेश देते हैं। वह कहते हैं, "अतिशय तृष्णा त्यागो"; क्योंकि स्वार्थवश किये गये अतिशय संग्रह की रक्षा अहिंसा से याने धर्म से नहीं हो सकती। यदि अधर्म से रक्षा करने का कार्यक्रम गढ़ेंगे, तो फिर अधर्म की ही वृद्धि होगी। इसलिए कहते हैं, "अतिशय तृष्णा त्यागो, पड़ोसी की सेवा करना सीखो, व्यवहार में सचाई सीखो, सहिष्णु बनो, ईश्वर में विश्वास रक्खो। किसीपर लोभवश आक्रमण न करो। यदि कोई दुष्टता से आक्रमण करता है, तो बिना मारे मरना सीखो। कायरता और अहिंसा एक वस्तु नहीं है। शौर्य की आत्यंतिकता का ही दूसरा नाम अहिंसा है। क्षमा बलवान् ही कर सकता है, इस-

लिए अत्यन्त शूर बनो । अत्यन्त शूर बनने के लिए जिन गुणों की ज़रूरत है उनकी वृद्धि करो, और शूर बनकर क्षमा करो । यदि इतना कर पाओ और ईश्वर में श्रद्धा है, तो निर्भय विचारो ।

गांधीजी के बाद क्या अहिंसा पनपेगी ? अहिंसा को गांधीजी के जीवन के पश्चात् प्रगति मिलेगी या विगति ?

बुद्ध और ईसामसीह के जीवन-काल में जितना उनके उपदेशों ने ज़ोर नहीं पकड़ा, उससे अधिक ज़ोर उनकी मृत्यु के बाद पकड़ा । यह सही है कि उनके जीवन के बाद उनके उपदेशों का भौतिक शरीर तो पुष्ट होता गया; पर आध्यात्मिक शरीर दुर्बल बनता गया । तो फिर क्या यह कह सकते हैं कि बुद्ध का उपदेश आज नष्ट हो गया है या ईसामसीह का तेज मिट गया है ? वर्षा होती है तब सब जगह पानी-ही-पानी नज़र आता है । शरद् में वह सब सूख जाता है, तब क्या हम यह कहें कि वर्षा का प्रभाव नष्ट हो गया ? बात तो यह है कि शरद् में धान्य के खलिहानों से परिपूर्ण खेत वर्षा के माहात्म्य का ही विज्ञापन देते हैं । वर्षा का पानी खेतों की मिट्टी में अवश्य सूख गया; पर वही पानी अन्न के दानों में प्रविष्ट होकर जीवित है । खेतों में यदि पानी पड़ा रहता, तो गन्दगी फैलती; कीचड़, मच्छड़, बदबू और विष

पैदा करता। अन्न में प्रवेश करके उसने अमृत पैदा किया।

महापुरुषों के उपदेश भी इसी तरह पात्रों के हृदय में प्रवेश करके स्थायी अमृत बन जाते हैं। गेहूँ के दाने से पूछिए कि वर्षा का पानी कहाँ है? वह बतायेगा कि वह पानी उसके शरीर म ज़िन्दा है। इसी तरह सत्पुरुषों के जीवन का फल भी पात्रों के हृदय में अमर है। गांधीजी का जीवन अहर्निश काम किये जा रहा है—और उनकी मृत्यु के बाद भी वह अमर रहेगा। बातों-ही-बातों में एक रोज़ उन्होंने कहा, "मेरी मृत्यु के बाद यदि अहिंसा का नाश होजाये, तो मान लेना चाहिए कि मुझमें अहिंसा थी ही नहीं।" यह सच्ची बात है, क्योंकि धर्म का नाश कैसे हो सकता है?

पर इस ज़माने में तो हिंसा में श्रद्धा रखनेवालों की भी आँखें खुल रही हैं। पहले-पहल अबीसीनिया का पात हुआ, पीछे धीरे-धीरे एक के बाद एक मुल्क गिरते गये। पर जर्मनी ने लड़ाई छेड़ी तबसे तो बड़ी हिंसा के सामने छोटी हिंसा ऐसी निर्बल साबित हुई, जैसे फौलाद की गोली के सामने शीशे की हाँड़ी। पोलण्ड गया, फिनलैण्ड गया, नार्वे, बेल्जियम, हालैण्ड, फिर फ्रांस सब बात-की-बात में मिट गये, और मिटने से पहले

स्मशान हो गये। एक डेन्मार्क मिटा तो सही; पर स्मशान नहीं हुआ।

प्रश्न उठता है कि इन देशों के लोग यदि बिना मारे मरने को तैयार होते, तो क्या उनकी स्थिति आज की स्थिति से कहीं अच्छी नहीं होती? आज तो उनका शरीर भी और आत्मा भी, दोनों मर गये। यदि वे बिना मारे मरते, तो बहुत संभव है कि उनका मुल्क उनके हाथ से शायद छिन जाता; पर उनकी आत्मा आज से कहीं अधिक स्वतन्त्र होती और मुल्क भी शायद ही छिनता या न छिनता। आज तो छिन ही गया। ये लोग अहिंसा से लड़ते, तो इनकी इस अनुपम अहिंसा का जर्मनी पर सौगुना अच्छा प्रभाव पड़ता।

"**अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्**" यह वाक्य निरर्थक नहीं है। यह यूरोप का 'यादव-संग्राम' आखिर है क्या? बढ़े हुए लोभ का ज्वालामुखी है, जो दहकती हुई आग से यूरोप के सारे मुल्कों को भस्म कर देना चाहता है। ऐसी अग्निवर्षा में अहिंसा अवश्य ही वर्षा का काम देती। पर हर हालत में यह तो साबित हो ही गया कि हिंसा भी स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सकी। बेल्जियम, फ्रांस और इंग्लैण्ड की सम्मिलित शक्ति बेल्जियम को नहीं बचा सकी। इसके बाद यदि कोई कहे कि "भाई, हिंसा

की आजमाइश हो गई, अब अहिंसा, जो अत्यन्त शौर्य का दूसरा नाम है, उसको जाग्रत करो और उससे युद्ध करना सीखो," तो उसे कौन पागल बता सकता है ? क्योंकि अहिंसा का उपदेशक प्रकारान्तर से इतना ही कहता है, "पाप छोड़ो, जो चीज़ जिसकी है, वह उसे देदो।

**'तेनत्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'**

धर्म से चलो; क्योंकि पाप खा जायेगा। धर्म ही रक्षा कर सकता है। न डरो, न डराओ।"

धर्म-धारण के माने ही हैं उस स्वार्थ का संयम, जो आज के भीषण संग्राम का स्रोत है। धर्म धारण करने के बाद संग्राम कहाँ, हिंसा कहाँ ?

लोग कहते हैं, "पर यह क्या कोई मान सकता है !" न माने, पर क्या इसलिए यह कहना चाहिए कि पाप करो, चोरी करो, झूठ बोलो, व्यभिचार करो ? ऐसे तार्किक तो गीताकार को भी कह सकते हैं कि क्या यह कोई मान सकता है ?

शौर्य की परमावधि का ही दूसरा नाम अहिंसा है। कायरता का नाम अहिंसा हर्गिज नहीं है। सम्पूर्ण निर्भयता में ही अहिंसा संभवित हो सकती है। और जो अत्यन्त शूर है, वही अत्यन्त निर्भय हो सकता है, असावधानी और अभय ये अलग-अलग चीजें हैं। जिसे प्रभाव के

कारण या नशे में भय का ज्ञान ही नहीं, वह निर्भय क्या होगा ? मगर जिसके सामने भय उपस्थित है, पर निर्भय है, वही परमशूर है, वही अहिंसावादी है।

एक हट्टे-कट्टे पिता को एक नादान बालक क्रोध में आकर चपत जमा जाता है, तो पिता को न क्रोध आता है, न बदले में चपत जमाने को उसकी हिंसा-वृत्ति जाग्रत होती है। पर वही चपत यदि एक हट्टा-कट्टा मनुष्य लगाता है, तो क्रोध भी आता है और हिंसा-वृत्ति भी जाग्रत होती है। यह इसलिए होता है कि बच्चे की चपत में तो पिता निर्भय था, पर समवयस्क की चपत ने भय का संचार किया। इस तरह हिंसा और भय का जोड़ा है। भय के आविर्भाव में हिंसा और भय के अभाव में अहिंसा है। हिटलर और चर्चिल दोनों को एक-दूसरे का डर है। शौर्य का इस दृष्टि से दोनों ओर अभाव है। दोनों ओर इसीलिए हिंसा का साम्राज्य है। शौर्य की आत्यन्तिकता में अहिंसा है; वैसे ही भय की आत्यन्तिकता में कायरता है।

एक और बात है। किसी प्राणी का हनन-मात्र ही हिंसा नहीं है। एक ऐसे पागल की कल्पना हम कर सकते हैं, जिसके हाथ एक मशीनगन पड़ गई हो और वह पागल-पन में यदि ज़िन्दा रहने दिया जाये तो हज़ारों आदमियों का खून कर डाले। ऐसे मनुष्य को मारना हिंसा नहीं हो

सकता। द्वेष-रहित होकर समबुद्धि से लोक-कल्याण के लिए किया गया हनन भी हिंसा नहीं हो सकता। पोलैण्ड के स्वदेश-रक्षा के युद्ध के सम्बन्ध में लिखते समय गांधीजी ने कहा : "यदि पोलैण्ड में स्वार्थ-त्याग और शौर्य की आत्यन्तिकता है, तो संसार यह भूल जायेगा कि पोलैण्ड ने हिंसा द्वारा आत्म-रक्षा की। पोलैण्ड की हिंसा क़रीब-क़रीब अहिंसा में ही शुमार होगी।"

पोलैंड की हिंसा क़रीब-क़रीब अहिंसा में शुमार क्यों होगी इसका विवेचन भी गांधीजी ने पिछले दिनों कुछ जिज्ञासुओं के सामने एक मौलिक ढंग से किया। मेरा ख़याल है कि वह विवेचन भी सम्पूर्ण नहीं था। और हो भी नहीं सकता था। एक ही तरह का कर्म एक समय धर्म और दूसरे समय अधर्म माना जा सकता है। एक कर्म धर्म है इसका निर्णय तो स्वयं ही करना है, पर पोलैंड की हिंसा भी क़रीब-क़रीब अहिंसा में ही शुमार हो सकती है, यह कथन उलझन पैदा कर सकता है, पर इसमें असंगति नहीं है।

इस सारे विश्लेषण से अहिंसा का शुद्ध स्वरूप और इसकी व्यावहारिकता समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

## ५

गांधीजी में अहिंसा-वृत्ति की जागृति कब हुई, राज-नीति में, समाज-नीति में और आपस के व्यवहार में इसका प्रयोग कैसे शुरू हुआ, इसके गुणों में श्रद्धा कब हुई, यह बताना कठिन प्रयास है। हम देखते हैं कि कितनी ही चीजें जो हमें मालूम होती हैं कि हमारे भीतर अचानक आ गई वे दरअसल धीरे-धीरे ही पनपी हैं। गुणों के बीज हमारे भीतर रहते हैं जो धीरे-धीरे अंकुरित होते हैं, फिर पनपते हैं। इसी तरह दुर्गुणों की भी बात है।

हम देखते हैं कि बचपन से ही गांधीजी के चित्त पर सत्य और अहिंसा के चित्रों की एक अमिट रूप-रेखा खिंच चुकी थी। अत्यन्त बचपन में गांधीजी एक मित्र की सोहबत के कारण अधर्म को धर्म मानकर, यह समझकर कि मांसाहार समाज के लिए लाभप्रद है, स्वयं भी मांस खाने लगे। उन्हें यह कार्यक्रम चुभने लगा, क्योंकि यह काम वह लुक-छिपकर करते थे। उसमें असत्य था और मांस खाना उन्हें रुचिकर भी नहीं था। पर एक बुराई से

दूसरी बुराई आती है। मांस खाने के बाद तम्बाकू पर मन गया। उसके लिए पैसे चाहिए, वे घर से चुराये। अब तो यह चीज़ असह्य हो गई और अन्त में उन्होंने यह तय किया कि सारी चीज़ पिता के सामने स्वीकार करके उनसे क्षमा-याचना की जाये। न जाने पिता को कितनी चोट लगे, गांधीजी को यह भय था। पर उन्होंने सारा क़िस्सा पत्र में लिखकर पत्र पिता के हाथ में रक्खा। पिता ने पढ़ा और फूट-फूटकर रोने लगे। गांधीजी को भी रुलाई आगई। कौन बता सकता है कि पिता के ये आँसू, चित्त को चोट पहुँची उस दुःख का नतीजा थे, या पुत्र ने सत्य का आश्रय लिया, उसके आनन्दाश्रु थे। "मेरे लिए तो यह अहिंसा का पाठ था। उस समय मुझे अहिंसा का कोई ज्ञान नहीं था, पर आज मैं जानता हूँ कि यह मेरी एक शुद्ध अहिंसा थी।" पिता ने क्षमा कर दिया; गांधीजी ने इन बुरी चीज़ों को तलाक़ दिया। पिता-पुत्र दोनों का बोझ हलका हो गया।

इस घटना से गांधीजी के विचारों में क्या-क्या उथल-पुथल हुई, कोई नहीं बता सकता। पर अहिंसा का बीज, मालूम होता है, यहीं से अंकुरित हुआ। मगर गांधीजी उस समय तो निरे बच्चे थे। जब इंग्लैण्ड जाने लगे, तब तो सयाने हो आये थे। पिता का देहान्त हो

चुका था । माता के सामने यूरोप जाने से पहले प्रतिज्ञा करली थी कि परदेश में कुछ भी कष्ट हो, मांस-मदिरा का सेवन न करूँगा। पर इतने से जात-बिरादरीवालों को कहाँ सन्तोष हो सकता था ? उन लोगों ने इन्हें जाने से रोका। "वहाँ धर्मभ्रष्ट होने का भय है।" "पर मैंने तो प्रतिज्ञा ले ली है कि मैं अभोज्य भोजन नहीं करूँगा"— गांधीजी ने कहा। पर जातवालों को कहाँ सन्तोष होता था ? गांधीजी को जात-बाहर कर दिया गया।

गांधीजी इंग्लैण्ड गये । अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे। वापस लौटे, तब जाति-बहिष्कार सामने उपस्थित था। "पर मैंने जात में वापस दाखिल होने की न तो आकांक्षा ही की, न पंचों के प्रति मुझे द्वेष ही था। पंच मुझसे नाखुश थे, पर मैंने उनका चित्त कभी नहीं दुखाया। इतना ही नहीं, जातिवालों के बहिष्कार के सारे नियमों का मैंने सख्ती के साथ पालन किया, अर्थात् मैंने स्वयं ही जात-बिरादरीवालों के यहाँ खाना-पीना बन्द कर दिया। मेरी ससुरालवाले और मेरे बहनोई मुझे खिलाना-पिलाना चाहते भी थे, पर लुक-छिपकर, जो मुझे नापसन्द था। इसलिए मैंने इन निकटस्थों के यहाँ पानी पीनातक बन्द कर दिया। मेरे इस व्यवहार का नतीजा यह हुआ कि हालाँकि जातिवालों ने मुझे बहिष्कृत कर दिया, पर उनका

मेरे प्रति प्रेम बढ़ गया। उन्होंने मेरे अन्य कार्यों में मुझे काफ़ी सहायता पहुँचाई। मेरा यह विश्वास है कि यह शुभ फल मेरी अहिंसा का परिणाम था।''

अफ्रीका में गांधीजी ने क़रीब बीस साल काटे। गये थे एक साधारण काम के लिए वकील की हैसियत से, पर वहाँ कालों के प्रति गोरों की घृणा, उनका ज़ोर-ज़ुल्म इतना ज्यादा था कि गांधीजी महज सेवा के लिए वहाँ कुछ दिन रुक गये। फिर तो स्वदेशवासियों ने उन्हें वहाँ से हटने ही नहीं दिया, और एक-एक करके उनके इक्कीस साल वहाँ बीते। इस अरसे में उन्हें काफ़ी लड़ना पड़ा, पर अहिंसा-शस्त्र में जो श्रद्धा वहाँ जमी, वह अमिट बन गई। अहिंसा के बड़े पैमाने पर प्रयोग किये, उसमें सफलता मिली और जो विपक्षी थे, उनका हृदय-परिवर्तन हुआ। जनरल स्मट्स, जिसके साथ उनकी लड़ाई हुई, अन्त में उनका मित्र बन गया। द्वितीय गोलमेज-परिषद् के समय जब गांधीजी लन्दन गये तब स्मट्स वहीं था। उसने कहलाया कि यदि मेरा उपयोग हो सके, तो आप मुझसे निस्संकोच काम लें। गांधीजी ने उसका साधारण उपयोग भी किया।

पर अहिंसात्मक उपायों द्वारा शत्रु मित्र के रूप में कैसे परिणत हो सकता है, इसका ज्वलंत उदाहरण

गांधीजी की इक्कीस साल की अफ्रीका की तपश्चर्या ने पैदा कर दिया। गांधीजी ने अफ्रीका में सूक्ष्मतया अहिंसा का पालन किया। मार खाई, गालियाँ खाई, जेल में सड़े, सब-कुछ यंत्रणाएँ सहीं, पर विपक्षी पर कभी क्रोध नहीं किया, धीरज नहीं खोया, हिम्मत नहीं छोड़ी, लड़ते गये, पर क्रोध त्यागकर। अंत में सफलता मिली; क्योंकि "**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।**"

अफ्रीका में काले-गोरे का भेद इतनी गहराईतक चला गया था कि कालों को, जिनमें हिन्दुस्तानियों का भी समावेश था, पटरी पर चलने की भी मुमानियत थी। रात को अमुक समय के बाद घर से निकलने का भी निषेध था। गांधीजी को टहलने-फिरने की काफ़ी आदत थी, समय-बेसमय घूमना भी पड़ता था। एक रोज़ प्रेसीडेण्ट क्रूगर के घर के सामने से गुज़र रहे थे, तो सन्तरी ने अचानक इन्हें धक्का मारकर पटरी से नीचे गिरा दिया और ऊपर से एक लात लगाई। गांधीजी चुपचाप मार खाकर खड़े हो गये। इन्हें तनिक भी क्रोध नहीं आया। इनके एक गोरे मित्र ने, जो पास से गुज़र रहा था, यह घटना देखी। उसे क्रोध आगया। उसने कहा, "गांधी, मैंने सारी घटना आँखों देखी है। तुम अदालत में इस सन्तरी पर मुक़दमा चलाओ, मैं तुम्हारा गवाह

बनकर तुम्हारी ताईद करूँगा। मुझे दुःख है कि तुम्हारे साथ यह दुर्व्यवहार हुआ।" गांधीजी ने कहा, "आप उदास न हों, मेरा नियम है कि व्यक्तिगत अन्याय के प्रतिकार के लिए में अदालत की शरण नहीं लेता। यह बेचारा मूर्ख क्या करे? यहाँ की आबहवा ही ऐसी है। मैं इसपर मुक़दमा नहीं चलाना चाहता।" इसपर उस सन्तरी ने गांधीजी से क्षमा-याचना की।

पर ऐसी तो अनेक घटनाएँ हुईं। बीच में कुछ दिनों के लिए स्वदेश आकर गांधीजी अफ्रीका लौटे, तब वहाँ के गोरे अख़बारवालों ने इनके सम्बन्ध में बहुत बढ़ा-चढ़ाकर झूठी-झूठी बातें अख़बारों में लिखीं और गोरी जनता को इनके ख़िलाफ़ उभारा। जहाज़ पर से गांधीजी उतरनेवाले थे, उस समय गोरी जनता ने इनके ख़िलाफ़ काफ़ी प्रदर्शन किया। पुलिस ने और उनके मित्रों ने इन्हें कहलाया कि उतरने में खतरा है, रात को उतरना अच्छा होगा। जहाज़ के कप्तान ने कहा, "यदि गोरों ने आपको पीटा, तो आप अहिंसा से उनका प्रतिरोध कैसे करेंगे?" गांधीजी ने उत्तर दिया, "ईश्वर मुझे ऐसी बुद्धि और शक्ति देगा कि मैं उन्हें क्षमा करदूँ। मुझे उनपर क्रोध नहीं आ सकता, क्योंकि वे अज्ञान के शिकार हैं। उन्हें सचमुच मैं बुरा लगता हूँ, तब वे क्या करें?

और मैं उनपर क्रोध कैसे करूँ ?''

गांधीजी आख़िर जहाज़ से उतरे। इनका एक गोरा मित्र इनकी रक्षा के लिए इनके साथ हो लिया। इन्होंने पैदल घर पहुँचने का निश्चय किया, जिससे किसी तरह की कायरता साबित न हो। बस, गोरी जनता का इन्हें देखना था कि उसके क्रोध का पारा ऊँचा उठने लगा। भीड़ बढ़ने लगी। आगे बढ़ना मुश्किल हो गया। भीड़ ने इनके गोरे मित्र को पकड़कर, गांधीजी से अलहदा करके एक किनारे किया और इनपर होने लगी बौछार—पत्थर, ईंट के टुकड़ों और सड़े अंडों की। इनकी सिर की पगड़ी नोंचकर फेंक दी गई। ऊपर से लात और मुक्कों के प्रहार होने लगे। गांधीजी बेहोश हो गये। फिर भी लातों का प्रहार जारी रहा। पर ईश्वर को उन्हें ज़िन्दा रखना था। पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट की स्त्री ने, जो पास से गुज़र रही थी, इस घटना को देखा। वह भीड़ में कूद पड़ी और अपना छाता तानकर इनकी रक्षा के लिए खड़ी होगई। भीड़ सहम गई। इतने में तो पुलिस सुपरिंटेण्डेण्ट खुद पहुँच गया और उन्हें बचाकर लेगया। गांधीजी ज़िन्दा बच गये।

उभरा हुआ जोश जब शान्त हुआ तब, सम्भव है, लोगों को पश्चात्ताप भी हुआ होगा। ब्रिटिश सरकार ने अफ्रीका की सरकार से कहा कि गुण्डे गोरों को पकड़कर

सज़ा देनी चाहिए। पर गांधीजी ने कहा, "मुझे किसीसे वैर नहीं। जब सत्य का उदय होगा तब मुझे मारनेवाले स्वयं पश्चात्ताप करेंगे। मुझे किसीको सज़ा नहीं दिलवानी है।" आज तो यह कल्पना भी हमारे लिए असह्य है कि गांधीजी को कोई लात-मुक्का मारे या उनको गालियाँ दे।

डेढ़ साल पहले की बात है। गांधीजी ने दिल्ली में श्री लक्ष्मीनारायणजी के मन्दिर का उद्घाटन किया था। कोई एक लाख मनुष्यों की भीड़ थी। तिल रखने को भी जगह नहीं थी। बड़ी मुश्किल से गांधीजी को मन्दिर के भीतर उद्घाटन-क्रिया करने के लिए पहुँचाया गया। मन्दिर के बाहर नरमुण्ड-ही-नरमुण्ड दिखाई देते थे। वृक्षों की हरी डालियाँ भी मनुष्यों से लदी पड़ी थीं। भीड़ गांधीजी के दर्शन के लिए आतुर थी। गांधीजी ने मन्दिर के छज्जे पर खड़े होकर लोगों को दर्शन दिये। एक पल पहले ही भीड़ बुरी तरह कोलाहल कर रही थी। पर जहाँ गांधीजी छज्जे पर आये—हाथ जोड़े हुए, बिलकुल मौन—वहाँ भीड़ का सारा कोलाहल बन्द हो गया और सहस्रों कण्ठों से केवल एक ही आवाज़, एक ही स्वर, गगन को भेदता हुआ चला गया—"महात्मा गांधी की जय!"

यह दृश्य विचारपूर्वक देखनेवाले को गद्गद कर देता

Rosalind Yupui Wong
黃玉華
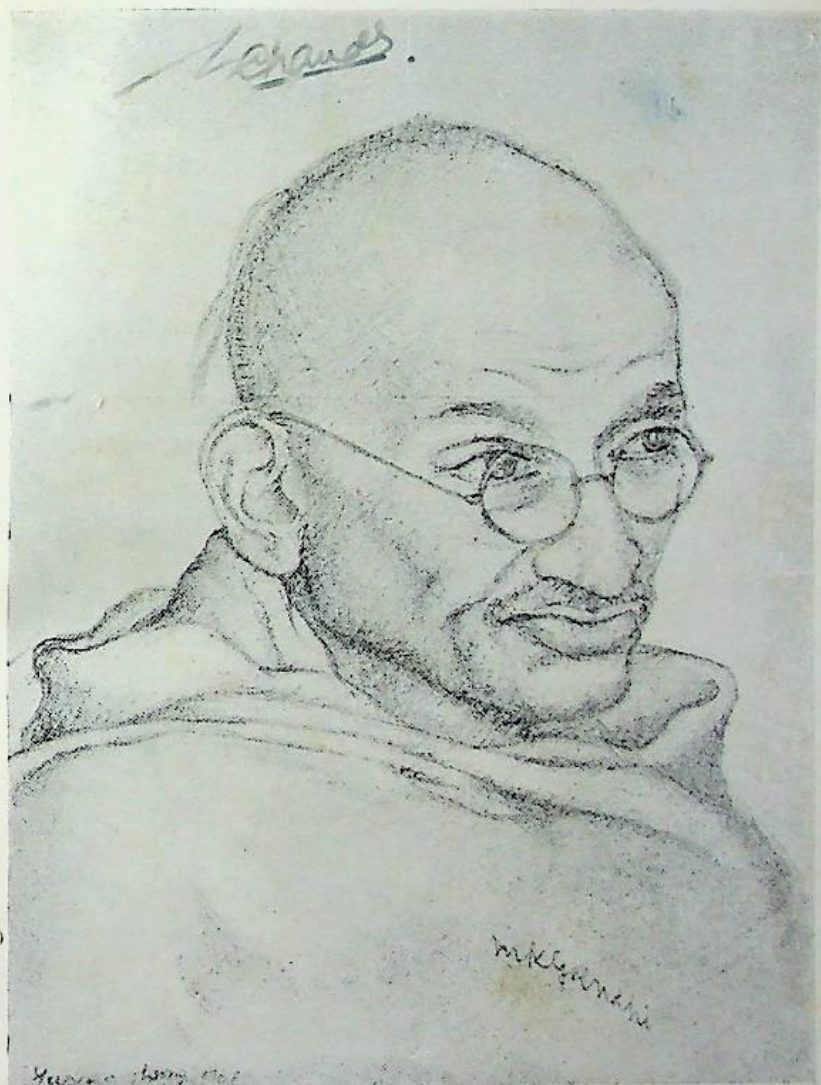
( चीनी चित्रकार द्वारा )

था। मेरी घिग्घी बँध गई। मैं विचार के प्रवाह में बहा जा रहा था। सोचता था कि यह कैसा मनुष्य है! छोटा-सा शरीर, अर्द्धनग्न, जिसने इतने लोगों को मोहित कर दिया, जिसने इतने लोगों को पागल कर दिया! उस भीड़ में शायद दस मनुष्य भी ऐसे न होंगे, जिन्होंने गांधीजी से कभी बात भी की हो। पर तो भी उनके दर्शनमात्र से सब-के-सब जैसे पागल होगये। वृक्षों की डालियों पर हज़ारों मनुष्य लदे थे, जिन्हें अपनी सुरक्षितता का भी भान नहीं था। वे भी केवल "महात्मा गांधी की जय" बस, इसी चिल्लाहट में मग्न थे।

एक वृक्ष की डाल टूटी। उसपर पचासों मनुष्य लदे थे। डाल कड़कड़ाती हुई नीचे की ओर गिरने लगी। पर ऊपर चढ़े हुए लोग तो "महात्मा गांधी की जय" की बुलन्द आवाज़ में मस्त थे। किसीको अपने जोखिम का खयाल न था। डाल नीचे जा गिरी। किसीको चोट न आई। एक यह दृश्य था, जिसमें "गांधीजी की जय" चिल्लानेवाले गांधीजी के पीछे पागल थे। उनके एक-एक रोम के लिए वह भीड़ अपना प्राण न्यौछावर करने को तैयार थी। और एक वह दृश्य था, जिसमें गोरी भीड़ "गांधी को मार डालो" इस नारे के पीछे पागल थी!

गांधीजी द्वितीय गोलमेज-परिषद् के लिए जब गये, तो वहाँ क़रीब साढ़े तीन महीने रहे। जहाँ भी गये वहाँ भीड़ इनपर मोहित थी, प्रेम से मुग्ध थी। आज यदि यह अफ़्रीका भी जायें, तो इनके प्रेम के पीछे वहाँ की गोरी जनता भी पागल हो जाये। यह सब पागलपन इसीलिए है कि गांधीजी ने मार खाकर, लातें खाकर भी क्षमा-धर्म को नहीं छोड़ा। अफ़्रीका की गोरी भीड़ के पागलपन का वह दृश्य हमारी आँखों के सामने आने पर हमें चाहे क्रोध आ जाये; पर वही दृश्य था, वही घटना थी और ऐसी अनेक घटनाएँ थीं, जिन्होंने आज के गांधी को जन्म दिया। ईसामसीह सूली पर न चढ़ता, तो उसकी महानता प्रकट न होती। गांधीजी ने यदि शान्तिपूर्वक लातें न खाई होतीं, तो उनकी क्षमा कसौटी पर सफल न होती।

गांधीजी महात्मा हैं, क्योंकि उन्होंने मारनेवालों के प्रति भी प्रेम किया। "मेरी इस वृत्ति ने, जिन-जिनके समागम में मैं आया उनसे मेरी मैत्री करा दी। मुझे अक्सर सरकारी महकमों से झगड़ना पड़ता था, उनके प्रति सख्त भाषा का प्रयोग भी करना पड़ता था; पर फिर भी उन महकमों के अफ़सर मुझसे सदा प्रसन्न रहते थे। मुझे उस समय यह पता भी न था कि मेरी यह वृत्ति मेरा स्वभाव ही बन गई है। मैंने पीछे यह जाना कि

सत्याग्रह का यह अंग है और अहिंसा का यह धर्म है कि हम यह जानें कि मनुष्य और उसके कर्म ये दो भिन्न-भिन्न चीज़ें हैं। जहाँ बुरे काम की हमें निन्दा और अच्छे की प्रशंसा करनी चाहिए, वहाँ बुरे मनुष्य के साथ हमें दया का और भले के साथ आदर का बर्ताव करना चाहिए। "पाप से घृणा करो, पापी से नहीं", यह मंत्र बहुतों की समझ में तो आ जाता है; पर व्यवहार में बहुत कम लोग इसके अभ्यस्त हैं। यही कारण है कि संसार में वैर का विष-वृक्ष इतनी सफलता से पनपता है।

"अहिंसा सत्य की बुनियाद है। मेरा यह विश्वास दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है कि यदि वह अहिंसा की भित्ति पर नहीं है तो, सत्य का पालन असंभव है। दुष्ट प्रणाली पर हमें आक्रमण करना चाहिए, उससे टक्कर लेनी चाहिए। पर उस प्रणाली के प्रणेता से वैर करना, यह आत्मवैर सरीखा है। हम सब-के-सब एक ही प्रभु की संतान हैं। हमारे सबके भीतर एक ही ईश्वर व्याप्त है; धर्मात्मा के भीतर और पापी के भीतर भी। इसलिए एक भी जीव को कष्ट पहुँचाना मानों ईश्वर का अपमान और सारी सृष्टि को कष्ट पहुँचाने-जैसी बात है।"

ये शब्द उस व्यक्ति के हैं, जिसने श्रद्धा के साथ अहिंसा का सेवन किया है।

**"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।**
**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।"**

गीता में काम एवं क्रोध को दुश्मन बताया है और कहा है कि इन्हें वैरी समझो। पर यह बुराई के लिए घृणा है, न कि बुरे के लिए। बुरे के लिए तो दूसरा आदेश है—

**"मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणाम्,**
**सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम् भावनातच्चित्तप्रसादनम् ।"**

बुरे अर्थात् पापी के लिए करुणा और उपेक्षा का आदेश है।

# ६

गांधीजी ने अफ्रीका में जो आश्रम बसाया था, उसका नाम रक्खा था "टालस्टॉय फार्म"। फिर स्वदेश लौटने पर साबरमती में सत्याग्रह-आश्रम बसाया और अब सेवाग्राम में आश्रम बनाकर रहते हैं। कुछ संयोग की बात है कि इन सभी आश्रमों में साँप-बिच्छू का बड़ा उपद्रव रहा है। गांधीजी स्वयं सर्प को भी नहीं मारते। उन्होंने औरों को सर्प मारने का निषेध नहीं कर रक्खा है; पर चूँकि गांधीजी सर्प की हत्या नहीं करते, इसलिए और आश्रमवासी भी इस काम से परहेज़ ही करते हैं।

सेवाग्राम में एक बार रात को एक बहन का पाँव बिच्छू पर पड़ा कि बिच्छू ने बड़े ज़ोर से डंक मारा। रातभर वह बहन दर्द के मारे परेशान रही। न अफ्रीका में, न हिन्दुस्तान में—आजतक आश्रम में सर्प ने किसीको नहीं काटा है। पर सर्प आये दिन पाँव के सामने आ जाते हैं और आश्रमवासी उन्हें पकड़कर दूर फेंक आते हैं। बिच्छू तो कई मर्तबा आश्रमवासियों को डंक मार चुके। एक दिन

महादेवभाई ने कहा, "बापू, आप सर्प नहीं मारने देते, इसलिए आपको कभी बहुत पछताना पड़ेगा। आये दिन साँप आश्रमवासियों के पाँवों में लोटते हैं। अबतक किसी-को नहीं काटा, पर यदि कोई दुर्घटना हुई और कोई मर गया, तो आप कभी अपने आपको संतोष न दे सकेंगे।"
"पर, महादेव," गांधीजी ने कहा, "मैंने कब किसीको मारने से मना किया है? यह सही है कि मैं नहीं मारता; क्योंकि मुझे आत्मरक्षा के लिए भी साँप को मारना रुचिकर नहीं है। पर अन्य किसीको मैं जोखिम में नहीं डालना चाहता। इसलिए लोगों को मारना हो, तो अवश्य मारें।" पर कौन मारे? गांधीजी नहीं मारते, तो फिर दूसरा कौन मारे?

"हमारे किसी आश्रम में अबतक ईश्वर-कृपा से किसी-को साँप ने नहीं काटा। सभी जगह साँपों की भरमार रही है, पर तो भी एक भी दुर्घटना नहीं हुई। मैं इसमें केवल ईश्वर का ही हाथ देखता हूँ। कोई यह तर्क न करे कि क्या ईश्वर को आपके आश्रमवासियों से कोई खास मुहब्बत है, जो आपके नीरस कामों में इतनी माथापची करता होगा? तर्क करनेवाले ऐसे तर्क किया करें; पर मेरे पास इस इकरंगे अनुभव की व्याख्या करने के लिए, सिवाय इसके कि यह ईश्वर का हाथ है, और कोई शब्द नहीं है।

मनुष्य की भाषा ईश्वर की लीला को क्या समझा सकती है ? ईश्वर की माया तो अवाच्य और अगम्य है। पर यदि मनुष्य साहस करके समझाये, तो भी आखिर उसे अपनी अस्पष्ट भाषा ही की तो शरण लेनी पड़ती है। इसलिए कोई चाहे मुझे यह कहे कि आपके आश्रमों में यदि कोई साँप से डसा जाकर अबतक न मरा तो यह महज़ अकस्मात् था, इसे ईश्वर की दया कहना एक वहम है। पर मैं तो इस वहम से ही चिपटा रहूँगा।"

इस तरह गांधीजी की अहिंसा अग्नि-परीक्षा में सफल होकर सान पर चढ़ी है।

## ७

"अहिंसा, सत्य की बुनियाद है।" प्रायः गांधीजी जब-जब अहिंसा की बात करते हैं तब-तब ऐसा कहते हैं और सत्य पर ज़ोर देते हैं। हमारे यहाँ आपद्धर्म के लिए कई अपवाद शास्त्रों में विहित माने गये हैं। प्राचीन काल में जब बारह साल का घोर दुर्भिक्ष पड़ा, तब विश्वामित्र भूख से व्याकुल होकर जहाँ-तहाँ खाद्यपदार्थ ढूँढ़ने निकले। जब कहीं भी उन्हें कुछ खाने को नहीं मिला, तो एक चाण्डाल-बस्ती में पहुँचे और रात को एक चाण्डाल के यहाँ से कुत्ते का मांस चुराने का निश्चय किया। पर चोरी करते समय उस चाण्डाल की आँख खुल गई और उसने ऋषि से कहा, "आप यह अधर्म क्यों कर रहे हैं?" विश्वामित्र की तो दलील यही थी कि आपत्काल में ब्राह्मण के लिए चोरी भी विहित है।

**"आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिषं च महीयसः।**
**विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्त्तव्यमिति निश्चयः॥"**

चाण्डाल ने उन्हें काफ़ी धर्मोपदेश दिया। उन्हें

समझाया कि आप पाप कर रहे हैं। अन्त में विश्वामित्र उपदेश सुनते-सुनते ऊब गये। कहने लगे कि मेंढ़की की टर्राहट से गाय सरोवर में जल पीने से विरत नहीं होती। तू धर्म-उपदेश देने का अधिकारी नहीं है, इसलिए क्यों वृथा बकवाद करता है ?

**"पिबन्त्येवोदकं गावो मण्डूकेषु रुदत्स्वपि।**
**न तेऽधिकारो धर्मेस्ति मा भूरात्मप्रशंसकः॥"**

और क्या मैं धर्म नहीं जानता ? यदि ज़िन्दा रहा तो फिर धर्म-साधन हो ही जायेगा, पर शरीर न रहा तो फिर धर्म कहाँ ? इसलिए इस समय प्राण बचाना ही धर्म है।"

गांधीजी ने इस तरह का तर्क कभी नहीं किया। न उन्हें यह तर्क पसन्द है।

कुछ काम उन्होंने आत्मा के विरुद्ध किये हैं। जैसे, उन्होंने दूध न पीने का व्रत लिया था। व्रत की बुनियाद में कई तरह के विचार थे। दूध ब्रह्मचारी के लिए उपयुक्त भोजन नहीं है, यह भी उनका मानना था, यद्यपि हमारे प्राचीन शास्त्रों से यह बात सिद्ध नहीं होती। पर जब व्रत लिया, तब गायों पर फूके की प्रथा का अत्याचार, जो कलकत्ते में ग्वालों द्वारा प्रचलित था, उनकी आँख के सामने था। व्रत ले लिया। कई सालोंतक चला। अन्त में अचानक रोग ने आ घेरा। सबने समझाया कि दूध

लेना चाहिए। गांधीजी इन्कार करते गये। गोखले ने समझाया, अन्य डाक्टरों ने कहा, पर किसीकी न चली। फिर दूसरी बीमारी का आक्रमण हुआ। वह ज्यादा ख़तरनाक थी। पर दूध के बारे में वही पुराना हठ जारी रहा। एक रोज़ बा ने कहा, "आपने प्रतिज्ञा ली तब आपके सामने गाय और भैंस के दूध का ही प्रश्न था, बकरी का तो नहीं था। आप बकरी का दूध क्यों न लें?" गांधीजी ने बा की यह बात मानकर बकरी का दूध लिया और तब से बकरी का ही दूध लेते हैं। पर गांधीजी को यह शंका है कि उन्होंने बकरी का दूध लेकर भी व्रत-भंग का दोष किया या नहीं।

असल में तो गांधीजी की आदत है कि जो प्रतिज्ञा या व्रत लिया, उसका अधिक-से-अधिक व्यापक अर्थ करना और उसपर अटल रहना। यदि किया हुआ काम अनीतियुक्त मालूम हुआ, तो चट उस मार्ग से बिना किसीके आग्रह किये हट जाते हैं। पर जबतक उन्हें अपना मार्ग अनीतियुक्त नहीं लगता, तबतक छोटी-छोटी चीज़ों में भी वह परिवर्तन नहीं करते। घूमने जाते हैं तो उसी रास्ते से। सोने का स्थान वही, खाने का स्थान वही, बर्तन वही, चीज़ें वही। मैंने देखा है कि दिल्ली आते हैं, तो आती बार निज़ामुद्दीन स्टेशन पर उतरते हैं

और जाती बार बड़े स्टेशन पर गाड़ी में सवार होते हैं। मेरे यहाँ ठहरते हैं तो उसी कमरे में, जिसमें बारबार ठहरते आये हैं। मोटर बदलना भी नापसन्द है। किसी भी आदत को ख्वाहमख्वाह नहीं बदलते। छोटी चीज़ों में भी एक तरह की पकड़ है।

"सत्य मेरा सर्वोत्तम धर्म है, जिसमें सारे धर्म समा जाते हैं। सत्य के माने केवल वाणी का सत्य नहीं, बल्कि विचार में भी सत्य। मिश्रित सत्य नहीं, पर वह नित्य, शुद्ध, सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य, जो ईश्वर है। ईश्वर की तरह-तरह की व्याख्याएँ हैं, क्योंकि उनके अनेक स्वरूप हैं। इन व्याख्याओं को सुनकर मैं आश्चर्य-चकित हो जाता हूँ और स्तब्ध भी हो जाता हूँ। पर मैं ईश्वर को सत्यावतार के रूप में पूजता हूँ। मैंने उसे प्राप्त नहीं किया है। पर मैं उसकी खोज में हूँ। इस खोज में मैं फ़ना होने को भी तैयार हूँ। पर जबतक मैं शुद्ध सत्य नहीं पा लेता तबतक उस सत्य का, जिसको मैंने सत्य माना है, अनुसरण करता हूँ। इस सत्य की गली सँकरी है और उस्तरे की धार की तरह पैनी है। पर मेरे लिए यह सुगम है। चूँकि मैंने सत्य-मार्ग को नहीं छोड़ा, इसलिए मेरी हिमालय जितनी बड़ी भूलें भी मुझे परेशानी में नहीं डालतीं।"

मालूम होता है कि सत्य, अहिंसा और ईश्वर में श्रद्धा, इन तीनों चीज़ों के अंकुर उनके हृदय में बचपन से ही थे। कौन बता सकता है कि कौन-सी चीज़ उनको पहले मिली? पूर्व जन्म के बीज तो साथ ही आये थे, पर मालूम होता है कि इस जन्म में सत्य सबसे पहले अंकुरित हुआ। "बचपन में ही"[1], वह कहते हैं, "एक चीज़ ने मेरे दिल में गहरी जड़ कर ली। वह यह कि धर्म सब चीज़ों का मूल है। इसलिए सत्य मेरा परम लक्ष्य बन गया। इसका आकार ज्यों-ज्यों मेरे दिल में घर घालता गया, त्यों-त्यों इसकी व्याख्या भी विस्तृत होती गई।"

गांधीजी बचपन में बड़ी लज्जालु प्रकृति के थे। दस-बीस दोस्तों के बीच भी उनका मुहँ नहीं खुलता था, और सार्वजनिक सभा में तो उनकी ज़बान एक तरह से बन्द ही होजाती थी। लन्दन में जब वह विद्याध्ययन में लगे थे तब छोटी-छोटी सभाओं में खड़े होकर बोलने का मौक़ा आया तो ज़बान ने उनका साथ न दिया। लोगों ने इनकी शर्माऊ प्रकृति का मज़ाक उड़ाया। इन्हें भी इसमें अपमान लगा; पर यह चीज़ जवानीतक भी बनी रही। बैरिस्टर बनकर भारत लौटने पर भी यह कमी बनी रही। बम्बई की अदालत मे एक मुक़दमे की पैरवी करने के लिए खड़े हुए तो घिग्घी बँध गई। मवक्किल को काग़ज़

वापस लौटाकर इन्होंने अपने घर का रास्ता नापा।

यह शर्माऊ प्रकृति क्यों थी? आज गांधीजी की ज़बान धाराप्रवाह चलती है। पर उस धाराप्रवाह में एक शब्द भी निरर्थक नहीं आता। क्या वह शर्माऊ प्रकृति सत्य का दूसरा नाम था? क्या उनकी हिचकिचाहट इस बात की द्योतक थी कि वह बोलों को तौल-तौलकर निकालना चाहते थे, और क्या इस शर्माऊ प्रकृति ने सत्य की जड़ को नहीं पोसा? "सिवा इसके कि मेरे शर्माऊपन के कारण मैं बाज़-बाज़ मौक़ों पर लोगों के मज़ाक का शिकार बन जाता था, मेरी इस प्रकृति से मुझे कभी कोई हानि नहीं हुई। उल्टा, मेरा तो खयाल है कि इससे मुझे लाभ ही हुआ। सबसे बड़ा लाभ तो मुझे यह हुआ कि मैं शब्दों की किफ़ायत करना सीख गया। स्वभावतः ही मेरे विचारों पर एक तरह का अंकुश आ गया और अब मैं यह कह सकता हूँ कि शायद ही कोई विचारहीन शब्द मेरी ज़बान या क़लम से निकलते हैं। मुझे ऐसा स्मरण नहीं कि जो कुछ मैंने कभी कहा या लिखा उसके लिए मुझे पाश्चात्ताप करना पड़ा हो। अनुभव ने मुझे यह बताया कि मौन, सत्य के पुजारी के लिए, आत्मनिग्रह का एक ज़बर्दस्त साधन है। अतिशयोक्ति या सत्य को दबाने या विकृत करने की प्रवृत्ति, मनुष्य में अक्सर पाई जाती

है। मौन एक ऐसा शस्त्र है, जो इन कमज़ोर आदतों का छेदन करता है। जो कम बोलता है, वह हर शब्द को तौल-तौलकर कहता है और इसलिए विचारहीन वाणी का कभी प्रयोग नहीं करता। मेरी इस लज्जाशील प्रकृति ने मेरी सत्य की खोज में मुझे अत्यन्त सहायता दी।''

भगवान् जिसके सिर पर हाथ रखते हैं, उसके दूषण भी उसके लिए भूषण बन जाते हैं। शिव ने विष-पान करके संसार का भला किया। इसके कारण उनका कण्ठ नीला पड़ गया। पर उसने शिव के सौंदर्य को और भी बढ़ा दिया और शंकर नीलकण्ठ कहलाये। गांधीजी की लज्जाशील प्रकृति ने, मालूम होता है, उनके लिए कई अच्छी चीज़ें पैदा करदीं—शब्दों की किफ़ा-यतशारी और तौल-तौलकर शब्दों का प्रयोग।

सत्य में गांधीजी की इतनी श्रद्धा जम गई थी कि वह उनका एक स्वभाव-सा बन गया। सत्य के लाभ को वह युवावस्था में ही हृदयंगम कर चुके थे। जब लन्दन गये, तब अभोज्य भोजन और ब्रह्मचर्य के विषय में माता के सामने प्रतिज्ञा करके गये थे। चूँकि सत्य पर वह दृढ़ थे, उन्हें इस प्रतिज्ञा को निबाहने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा। लक्ष्य के प्रति उनकी श्रद्धा ने उन्हें गड्ढों में गिरने से बचा लिया।

"ईश्वर के अनेक रूप हैं, पर मैं उसी रूप का पुजारी हूँ, जो सत्य का अवतार है—वह नित्य, सनातन और अपरिवर्तनशील सत्य है, जो ईश्वर है।" हमारे पुराणों में कई जगह कहा है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये एक ही ईश्वर के तीन रूप हैं। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो, मालूम होता है कि गांधीजी की अहिंसा, सत्य और ईश्वर ये एक ही वस्तु हैं। रामनाम के माहात्म्य को गांधीजी ने पीछे पहचाना, पर इसमें श्रद्धा पहले हुई।

कहते हैं कि गांधीजी को बचपन में भूत का डर लगता था, इसलिए यह समय-कुसमय अँधेरे में जाने से डरते थे। पर इनकी नौकरानी रंभा ने इन्हें बताया कि रामनाम की ऐसी शक्ति है कि उसके उच्चारण से भूत भागता है। बालक गांधी को यह एक नया शस्त्र मिला और उसमें श्रद्धा जमती गई। पहले जो श्रद्धा अंधी थी, ज्ञानविहीन थी, वह धीरे-धीरे ज्ञानवती होने लगी और बाद में उस श्रद्धा के पीछे अनुभव भी जमा होने लगा।

मैंने देखा है कि गांधीजी जब उठते हैं, बैठते हैं, जँभाई लेते हैं या अँगड़ाई लेते हैं तो लम्बी साँस लेकर "हे राम, हे राम" ऐसा उच्चारण करते हैं। मैंने ध्यान-पूर्वक अवलोकन किया है कि इनके "हे राम, हे राम" में कुछ आह होती है, कुछ करुणा होती है, कुछ थकान होती है। मैंने मन-ही-मन सोचा है कि क्या वह यह कहते होंगे, "हे राम, अब बुड्ढे को क्यों तेली के बैल की तरह जोत रक्खा है? जो करना हो सो शीघ्र करो। जिस काम के लिए मुझे भेजा है उसकी पूर्णाहुति में विलम्ब क्यों?"

जयपुर के महाराज प्रतापसिंह कवि थे। अपनी बीमारी के असह्य दुःख को जब बर्दाश्त न कर सके, तब उन्होंने ईश्वर को उलाहना देते हुए गाया—

**"ग्वालीड़ा, थे काईं जाणो रे पीड़ पराई।**
**थारे हाथ लकुटिया, कांधे कमलिया, थे बन-बन धेनु चराई।"**

पर गांधीजी के सम्बन्ध में शायद ऐसा नहीं होगा। क्योंकि गांधीजी में धीरज है। वह जानते हैं, ईश्वर की उनपर अत्यन्त अनुकंपा है। उन्हें ईश्वर में विश्वास है। जस-अपजस और हानि-लाभ की चिंता उन्होंने भगवान् के चरणों में समर्पण कर दी है, इसलिए उन्हें अधैर्य्य नहीं है, उन्हें असंतोष नहीं है। पर तो भी उनका करुणामय
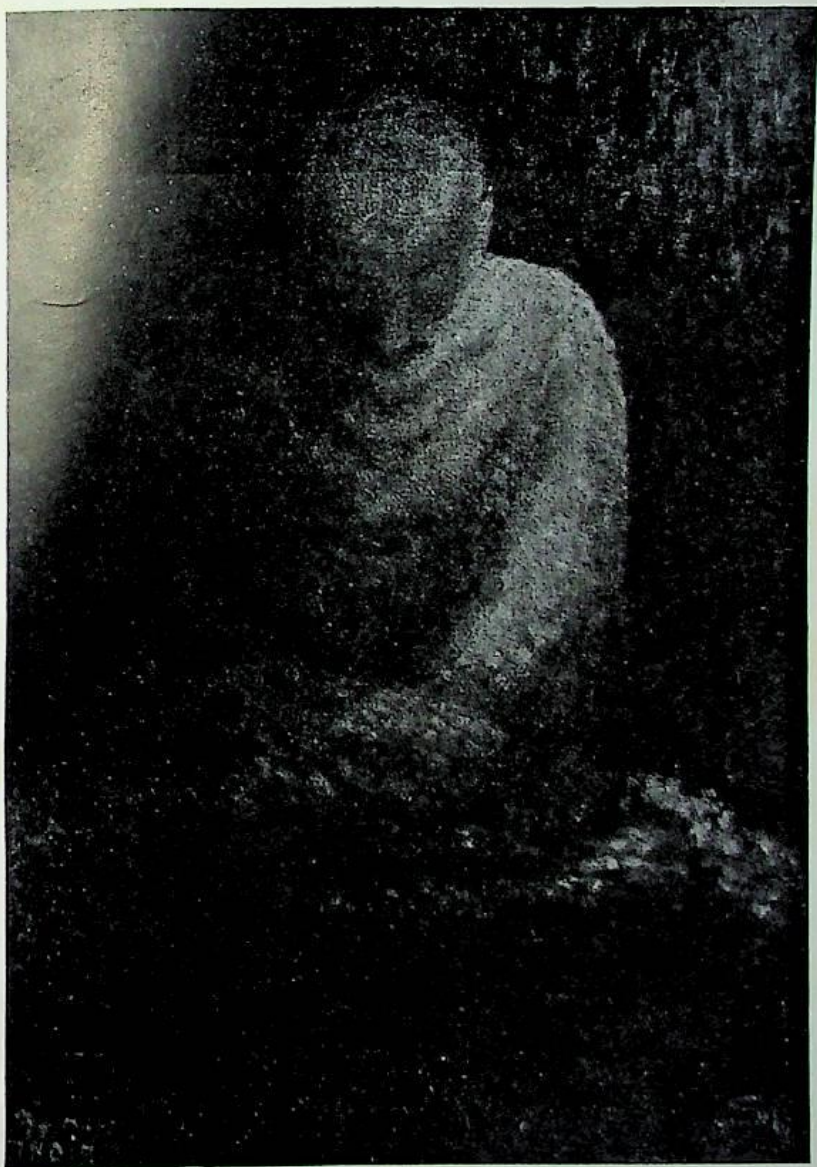
ध्यानावस्थित

[ हँगरी की महिला चित्रकार सास ब्रुनर के 'अद्भुत भारत' नामक चित्र संग्रह से ]

"हे राम, हे राम" कुछ द्रौपदी की-सी पुकार या गज के आर्त्तनाद की-सी कल्पना कराता है।

कुछ वर्षों पहले की बात है, एक सज्जन ने, जो भक्त माने जाते हैं, गांधीजी को लिखा, "मुझे रात को एक स्वप्न आया। स्वप्न में मैंने श्रीकृष्ण को देखा। श्रीकृष्ण ने मुझसे कहा, "गांधी से कहो कि अब उसका अन्त नज़दीक आगया है, इसलिए उसे चाहिए कि वह सारे काम-धाम छोड़कर केवल ईश्वर-भजन में ही लगे।" गांधीजी ने उस मित्र को लिखा, "भाई, मैं तो एक पल के लिए भी ईश्वर-भजन को नहीं बिसारता। पर मेरे लिए लोक-सेवा ही ईश्वर-भजन है। दूसरी बात, समय नज़दीक आगया है, इसीलिए क्या हम ईश्वर-भजन करें? मैं तो यह मानता हूँ कि हमारी गर्दन हम जन्मते हैं उसी दिन से यमराज के हाथ में है। फिर ईश्वर-भजन करने के लिए हम बुढ़ापेतक क्यों ठहरें? ईश्वर-भजन तो हर अवस्था में हमें करना चाहिए।"

"अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिंतयेत्।
गृहीतइव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।"

ईश्वर में उनकी श्रद्धा इस ज़ोर के साथ जम गई कि हर चीज़ में वह ईश्वर की ही कृति देखते हैं। आश्रमों में साँपों ने किसीको नहीं काटा, यह ईश्वरीय चमत्कार।

छोटी-मोटी कोई घटना होती है, तो वह कहते हैं—"इसमें ईश्वर का हाथ था।"

गांधी-अरविन-समझौते के बाद वाइसराय के मकान से आते ही उन्होंने पत्र-प्रतिनिधियों को एक लम्बा बयान दिया, जो उस समय एक अत्यन्त महत्त्व का वक्तव्य समझा गया था। वक्तव्य देने से पहले उन्हें खयाल भी न था कि क्या कहना उचित होगा। पर ज्योंही बोलना शुरू किया कि जिह्वा धाराप्रवाह चलने लगी, मानो सरस्वती वाणी पर बैठी हो। इसी तरह गोलमेज़-परिषद् में उनका पहला व्याख्यान महत्त्वपूर्ण व्याख्यानों में से एक था। उस व्याख्यान के देने से पहले भी उन्होंने कोई सोच-विचार नहीं किया था। वैसे तो उनके लिए यह साधारण घटना थी, पर दोनों घटनाओं के पश्चात् जब मैंने कहा—"आपका यह वक्तव्य अनुपम था, आपका यह व्याख्यान अद्वितीय था।"—तो उन्होंने कहा, "इसमें ईश्वर का हाथ था।"

हमलोग भी, यदि हमसे कोई कहे कि आपका अमुक काम अच्छा हुआ तो शायद यह कहेंगे, "हाँ, आपकी दया से अच्छा हुआ" या "ईश्वर का अनुग्रह था।" पर हमलोग जब ईश्वर के अनुग्रह की बात करते हैं, तब एक तरह से वह सौजन्य या शिष्टाचार की बात

होती है। बात यह है कि गांधीजी जब यह कहते हैं कि "इसमें ईश्वर का हाथ था" तब दरअसल वह इसी तरह महसूस भी करते हैं। उनकी श्रद्धा एक ज़िन्दा चीज़ है, केवल शिष्टाचार या सौजन्य की वस्तु नहीं।

एक इनका प्रिय साथी है, जो दुश्चरित्र है। उसको यह अपने घर में रखते थे। यह अफ्रीका की घटना है। यद्यपि वह साथी चरित्रहीन था, पर उसपर निश्शंक होकर गांधीजी विश्वास करते थे। उसकी कुछ त्रुटियों का इन्हें ज्ञान था, पर इन्हें यह विश्वास था कि वह इनकी संगति से सुधर जायेगा। एक रोज़ इनका नौकर दफ्तर में पहुँचता है और कहता है कि ज़रा आप घर चलकर देखें कि आपका विश्वासपात्र साथी आपको कैसे धोखा दे रहा है। गांधीजी घर आते हैं और देखते हैं कि उस विश्वास-पात्र साथी ने एक वेश्या को घर पर बुला रक्खा है! इन्हें सदमा पहुँचता है। उस साथी को घर से हटाते हैं। उसके प्रति उन्हें प्यार था। उसका सुधार करने के लिए ही उसे पास टिका रक्खा था। उनके लिए यह भी एक कर्त्तव्य का प्रयोग था। पर इसका ज़िक्र करते समय यही कहते हैं, "ईश्वर ने मुझे बचा लिया। मेरा उद्देश्य शुद्ध था, इसलिए भगवान् ने मुझे भविष्य के लिए चेतावनी देकर सावधान कर दिया और भूलों से

बचा लिया।" यह सारा क़िस्सा उनके अन्धविश्वास और भूल साबित होने पर झट अपनी भूल सुधार लेने की वृत्ति का एक सजीव उदाहरण है।

एक घटना मणिलाल भाई के, जो इनके द्वितीय पुत्र हैं, कालज्वर से आक्रांत हो जाने की है, जिसे मैं नीचे गांधीजी के शब्दों में ही उद्धृत करता हूँ :

"मेरा दूसरा लड़का बीमार हो गया। कालज्वर ने उसे घेर लिया था। बुख़ार उतरता नहीं था। घबराहट तो थी ही; पर रात को सन्निपात के लक्षण भी दिखाई देने लगे। इस व्याधि से पहले, बचपन में, उसे शीतला भी खूब निकल चुकी थी।

डाक्टर की सलाह ली। डाक्टर ने कहा—"इसके लिए दवा का उपयोग नहीं हो सकता; अब तो इसे अण्डे और मुर्गी का शोरबा देने की ज़रूरत है।"

मणिलाल की उम्र दस साल की थी, उससे तो क्या पूछना था? ज़िम्मेदार तो मैं ही था, मुझे ही निर्णय करना था। डाक्टर एक भले पारसी सज्जन थे। मैंने कहा—"डाक्टर, हम तो सब अन्नाहारी हैं। मेरा विचार तो मेरे लड़के को इन दोनों में से एक भी वस्तु देने का नहीं है। दूसरी ही कोई वस्तु न बतलायेंगे?"

डाक्टर बोले—"तुम्हारे लड़के की जान ख़तरे में

है। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है; पर उससे पूरा संतोष नहीं हो सकता। तुम जानते हो कि मैं तो बहुत-से हिन्दू-परिवारों में जाया करता हूँ; पर दवा के लिए तो हम जो चाहते हैं वही चीज़ उन्हें देते हैं, और वे उसे लेते भी हैं। मैं समझता हूँ कि तुम भी अपने लड़के के साथ ऐसी सख्ती न करो तो अच्छा होगा।''

''आप जो कहते हैं वह तो ठीक है, और आपको ऐसा कहना ही चाहिए; पर मेरी ज़िम्मेदारी बहुत बड़ी है। यदि लड़का बड़ा होता, तो ज़रूर उसकी इच्छा जानने का प्रयत्न भी करता और जो वह चाहता वही उसे करने देता; पर यहाँ तो इसके लिए मुझे ही विचार करना पड़ रहा है। मैं तो समझता हूँ कि मनुष्य के धर्म की कसौटी ऐसे ही समय होती है। चाहे ठीक हो चाहे ग़लत, मैंने तो इसको धर्म माना है कि मनुष्य को मांसादि न खाना चाहिए। जीवन के साधनों की भी सीमा होती है। जीने के लिए भी अमुक वस्तुओं को हमें नहीं ग्रहण करना चाहिए। मेरे धर्म की मर्यादा मुझे और मेरे लोगों को भी ऐसे समय पर मांस इत्यादि का उपयोग करने से रोकती है। इसलिए आप जिस ख़तरे को देखते हैं मुझे उसे उठाना ही चाहिए। पर आपसे मैं एक बात चाहता हूँ। आपका इलाज तो मैं नहीं करूँगा; पर मुझे इस

बालक की नाड़ी और हृदय को देखना नहीं आता है। जल-चिकित्सा की मुझे थोड़ी जानकारी है। उपचारों को मैं करना चाहता हूँ; परन्तु जो आप नियम से मणिलाल की तबीयत देखने को आते रहें और उसके शरीर में होने-वाले फेरफारों से मुझे अभिज्ञ करते रहेंगे, तो मैं आपका उपकार मानूँगा।''

सज्जन डाक्टर मेरी कठिनाइयों को समझ गये और मेरी इच्छानुसार उन्होंने मणिलाल को देखने के लिए आना मंजूर कर लिया।

यद्यपि मणिलाल अपनी राय क़ायम करने लायक़ नहीं था, तो भी डाक्टर के साथ जो मेरी बातचीत हुई थी वह मैंने उसे सुनाई और अपने विचार प्रकट करने को कहा।

''आप सुखपूर्वक जल-चिकित्सा कीजिए। मैं शोरवा नहीं पीऊँगा, और न अण्डे ही खाऊँगा।'' उसके इन वाक्यों से मैं प्रसन्न हो गया, यद्यपि मैं जानता था कि अगर मैं उसे दोनों चीज़ें खाने को कहता तो वह खा भी लेता।

मैं क्यूनी के उपचारों को जानता था, उनका उपयोग भी किया था। बीमारी में उपवास का स्थान बड़ा है, यह मैं जानता था। क्यूनी की पद्धति के अनुसार मैंने मणिलाल को कटि-स्नान कराना शुरू किया। तीन मिनट से ज्यादा उसे मैं टब में नहीं रखता। तीन दिन तो सिर्फ़

नारंगी के रस में पानी मिलाकर देता रहा और उसीपर रक्खा।

बुख़ार दूर नहीं होता था और रात को वह कुछ-कुछ बड़बड़ाता था। बुख़ार १०४ डिग्रीतक हो जाता था। मैं चकराया। यदि बालक को खो बैठा, तो जगत् में लोग मुझे क्या कहेंगे? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डाक्टरों को क्यों न बुलाया जाये? क्यों न बुलाऊँ? माँ-बाप को अपनी अधूरी अक़ल आज़माने का क्या हक़ है?

ऐसे विचार उठते। पर ये विचार भी उठते—"जीव! जो तू अपने लिए करता है, वही लड़के के लिए भी कर। इससे परमेश्वर सन्तोष मानेंगे। मुझे जल-चिकित्सा पर श्रद्धा है, दवा पर नहीं। डाक्टर जीवन-दान तो देते नहीं। उनके भी तो आख़िर में प्रयोग ही न हैं? जीवन की डोरी तो एकमात्र ईश्वर के हाथ में है। ईश्वर का नाम ले और उसपर श्रद्धा रख। अपने मार्ग को न छोड़।"

मन में इस तरह उथल-पुथल मचती रही। रात हुई। मैं मणिलाल को अपने पास लेकर सोया हुआ था। मैंने निश्चय किया कि उसे भिगोकर निचोड़े हुए कपड़ों में रक्खा जाये। मैं उठा, कपड़ा लिया, ठंडे पानी में उसे

डुबोया और निचोड़कर उसमें पैर से लेकर सिरतक उसे लपेट दिया, और ऊपर से दो कम्बल ओढ़ा दिये; सिर पर भीगा हुआ टुवाल भी रख दिया। शरीर तवे की तरह तप रहा था, पसीना तो आता ही न था।

मैं खूब थक गया था। मणिलाल को उसकी माँ को सौंपकर मैं आध घण्टे के लिए खुली हवा में ताज़गी और शान्ति प्राप्त करने के इरादे से चौपाटी की तरफ़ चला गया। रात के दस बजे होंगे। मनुष्यों की आमद-रफ्त कम हो गई थी; पर मुझे इसका ख़याल न था! विचार-सागर में गोते लगा रहा था—"हे ईश्वर! इस धर्म-संकट में तू मेरी लाज रखना।" मुहँ से 'राम-राम' का रटन तो चल ही रहा था। कुछ देर के बाद मैं वापस लौटा! मेरा कलेजा धड़क रहा था। घर में घुसते ही मणिलाल ने आवाज़ दी—"बापू! आगये?"

"हाँ, भाई।"

"मुझे इसमें से निकालिए न? मैं तो मारे आग के मरा जा रहा हूँ।"

"क्यों पसीना छूट रहा है क्या?"

"अजी, मैं तो पसीने से तर हो गया। अब तो मुझे निकालिए न?"

मैंने मणिलाल का सिर देखा। उसपर मोती की

तरह पसीने की बूँदें चमक रही थीं। बुख़ार कम हो रहा था। मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया।

"मणिलाल, घबड़ा मत। अब तेरा बुख़ार चला जायेगा; पर कुछ और पसीना आजाये तो कैसा ?" मैंने उससे कहा।

उसने कहा—"नहीं बापू! अब तो मुझे छुड़ाइए। फिर देखा जायेगा।"

मुझे धैर्य आगया था, इसीलिए बातों ही में कुछ मिनट गुज़ार दिये। सिर से पसीने की धारा बह चली। मैंने चद्दर को अलग किया, और शरीर को पोंछकर सूखा कर दिया फिर बाप-बेटे दोनों सो गये। दोनों खूब सोये।

सुबह देखा तो मणिलाल का बुख़ार बहुत कम हो गया है। दूध, पानी तथा फलों पर चालीस दिनतक रहा। मैं निडर हो गया था। बुख़ार हठीला था; पर वह क़ाबू में आगया था। आज मेरे लड़कों में मणिलाल ही सबसे अधिक स्वस्थ और मज़बूत है।

इसका निर्णय कौन कर सकता है कि यह रामजी की कृपा है या जल-चिकित्सा, अल्पाहार की अथवा और किसी उपाय की ? भले ही सभी अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार बरतें; पर उस वक्त मेरी तो ईश्वर ने ही लाज

रक्खी। यही मैंने माना, और आज भी मानता हूँ।''

मुझे लगता है, और शायद औरों को भी लगे कि गांधीजी का यह प्रयोग ''ऊँट वैद्य'' या ''नीम हकीम'' का-सा प्रयोग था। यह जोखिम उठाना जा नहीं था। ''पर डाक्टर कहाँ शर्तिया इलाज करता है, और जो चीज़ धर्म के विपरीत हो, उसे हम जान बचाने के लिए भी कैसे करें?''

तृतीय पुत्र रामदास को साधारण चोट लगी थी, उसपर भी कुछ ऐसे ही मिट्टी के उपचार के प्रयोग किये गये। यह भी एक साधारण घटना थी। पर इसका ज़िक्र करने में भी वही ईश्वरवाद आता है। ''मेरे प्रयोग पूर्णतः सफल हुए, ऐसा मेरा दावा नहीं है, पर डाक्टर भी ऐसा दावा कहाँ कर सकते हैं? मैं इन चीज़ों का ज़िक्र इसी नीयत से करता हूँ कि जो इस तरह के नवीन प्रयोग करना चाहे, उसे स्वयं अपने ऊपर ही इसकी शुरूआत करनी चाहिए। ऐसा करने से सत्य की प्राप्ति शीघ्र होती है। ईश्वर ऐसा प्रयोग करनेवाले की रक्षा करता है।''

ये वचन निश्चय ही सांसारिक मापतौल के हिसाब से अव्यावहारिक हैं। सांसारिक मापतौल, अर्थात्—जिसे लोग सांसारिक मापतौल मानते हैं। क्योंकि दरअसल तो अध्यात्म और व्यवहार, दोनों असंगत वस्तुएँ हो ही

नहीं सकतीं। यदि अध्यात्म की संसार से पटरी न खाये तो यह फिर कोरी कल्पना की चीज़ रह जाती है। पर यह तर्क तो हम आसानी से कर सकते हैं कि जो क्षेत्र हमारा नहीं है उसमें पड़ने का हमें अधिकार ही कहाँ है ? यह सही है कि डाक्टर भी सम्पूर्ण नहीं हैं, पर यह भी कहा जा सकता है कि जिसने डाक्टरी नहीं सीखी, वह डाक्टर से कहीं ज्यादा अपूर्ण है। पर गांधीजी इसका जवाब यह देंगे कि प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग ही ऐसे हैं कि लाभ कम करें या ज्यादा, हानि तो कर ही नहीं सकते।

मैंने देखा है कि आज भी ऐसे प्रयोगों के प्रति उनकी रुचि कम नहीं हुई है। आज भी आश्रम में यक्ष्मा के रोगी हैं, कुष्ठ के रोगी हैं, और भी कई तरह के रोगी हैं और उनकी चिकित्सा में गांधीजी रस लेते हैं। इसमें भावना एक तो सेवा की है। रोगियों की सेवा और पतितों की रक्षा, यह उनकी प्रवृत्ति है। पर शायद जाने-अनजाने उनके चित्त में यह भी भावना है कि ग़रीब मुल्क में ऐसी चिकित्सा जो सुलभ हो, जो सादी हो, जो गाँव-गँवई में भी की जा सके, जिसमें विशेष व्यय न हो, बजाय क़ीमती चिकित्सा के ज्यादा उपयोगी हो सकती है। इस दृष्टि से भी उनके प्रयोग जारी हैं। उसमें से कोई

उपयोगी वस्तु ढूँढ़ निकालने का लोभ चल ही रहा है। और चूँकि ये प्रयोग सेवा के लिए सेवा की दृष्टि से होते हैं, यदि ये भगवान् के भरोसे न हों, तो काफ़ी संकल्प-विकल्प और अशांति भी पैदा कर सकते हैं। जो हो, कहना तो यह था कि गांधीजी की ईश्वर-श्रद्धा हर काम में हर समय कैसे गतिमान रहती है।

"मैं निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता कि मेरे तमाम कार्य ईश्वर की प्रेरणा से होते हैं। पर जब मैं अपने बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे कामों का लेखा लगाता हूँ, तो मुझे यह लगता है कि वे ईश्वर की प्रेरणा से किये गये थे, ऐसा कथन अनुपयुक्त नहीं होगा। मैंने ईश्वर का दर्शन नहीं किया, पर उसमें मेरी श्रद्धा अमिट है और उस श्रद्धा ने अब अनुभव का रूप ले लिया है। शायद कोई यह कहे कि श्रद्धा को अनुभव का उपनाम देना, यह सत्य की फ़ज़ीहत होगी। इसलिए मैं कहूँगा कि मेरी ईश्वर-श्रद्धा का नामकरण करने के लिए मेरे पास और कोई शब्द नहीं है।"

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में लिखते हुए भी वही रामनाम साधकों के सामने रख देते हैं। "बिना उस प्रभु की शरण में गये, विचारों पर पूर्ण आधिपत्य असम्भव है। पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन के अपने इस सतत प्रयत्न में, हर पल,

मैं इस सीधे-सादे सत्य का अनुभव कर रहा हूँ।"

बा को अफ्रीका में भयंकर बीमारी ने आ घेरा, तब मांस के शोरवे का प्रश्न आया। बा और गांधीजी दोनों ने डाक्टर की राय को अस्वीकार किया। वहाँ भी जीवन-मरण का प्रश्न था। वहाँ भी गांधीजी के वही उद्गार थे। "ईश्वर में विश्वास करके मैं अपने मार्ग पर डटा रहा"। और अन्त में विजय हुई।

पर इससे भी छोटी घटनाओं में गांधीजी ईश्वर की लीला का वर्णन करते हैं। स्वदेश लौट आने के बाद जब-जब वह दौरे पर जाते थे, तब-तब थर्ड क्लास में ही यात्रा करते थे। उस ज़माने में गांधीजी के नाम से तो काफ़ी लोग परिचित हो गये थे, पर आज की तरह सूरत-शक्ल से सब लोग उन्हें पहचानते नहीं थे। जहाँ जाते थे वहाँ लोगों को पता लगने पर दर्शनार्थियों की तो भीड़ लग जाती थी, जिसके मारे उन्हें एकान्त मिलना दुष्कर हो जाता था, पर गाड़ी में जहाँ लोग उन्हें पहचानते न थे, वहाँ जगह मिलने की मुसीबत थी। और उन दिनों वह प्रायः अकेले ही घूमते थे।

बहुत वर्षों की बात है। गांधीजी लाहौर से दिल्ली जा रहे थे। वहाँ से फिर कलकत्ते जाना था। कलकत्ते में एक मीटिंग होनेवाली थी, इसलिए समय पर पहुँचना

था। पर लाहौर के स्टेशन पर जब गाड़ी पकड़ने लगे तो गाड़ी में कहीं भी जगह न मिली। आखिर एक कुली ने इनसे बारह आने की बख्शीश मिले तो बिठा देने का वायदा किया। इन्होंने बख्शीश देने का करार किया। पर जगह तो थी ही नहीं। एक डिब्बे के लोगों ने कहा : "जगह तो नहीं है, पर चाहो तो खड़े रह सकते हो।" गांधीजी को जैसे-तैसे रेल में बैठना था, इसलिए खड़े रहना ही स्वीकार किया। कुली ने इन्हें खिड़की के रास्ते डिब्बे में ढकेलकर अपने बारह आने गाँठ में दबाये।

अब रात का समय और खड़े-खड़े रात काटना। दो घंटेतक तो खड़े-खड़े समय काटा। कमज़ोर शरीर, रास्ते की थकान। फिर गाड़ी का शोरगुल, धूल और धुआँ। और फिर खड़े रहकर यात्रा करना। कुछ धक्का-मुक्की करना जाननेवाले लोग तो लम्बी तानकर सो गये थे, पर इन्होंने तो बैठने के लिए भी जगह नहीं माँगी। कुछ लोगों ने देखा, यह अजीब आदमी है, जो बैठने के लिए भी झगड़ा नहीं करता। अन्त में लोगों का कौतूहल बढ़ा। "भाई, बैठ क्यों नहीं जाते ?" कुछ ने कहा। पर इन्होंने कहा "जगह कहाँ है ?" आखिर लोग नाम पूछने लगे। नाम बताया, तब तो सन्नाटा छा गया। शर्म के मारे लोगों की गर्दन झुक गई। चारों तरफ़ से लोगों

ने अपने हाथ-पाँव समेटना शुरू किया। क्षमा माँगी जाने लगी और अन्त में जगह दी और सोने को स्थान दिया। थककर प्रायः बेहोश-जैसे हो गये थे। सिर में चक्कर आते थे। इस घटना का ज़िक्र करते समय भी गांधीजी इसमें ईश्वर की अनुकम्पा पाते हैं। "ईश्वर ने मुझे ऐसे मौक़े पर सहायता भेजी जबकि मुझे उसकी सख्त ज़रूरत थी।"

निलहे गोरों के अत्याचार से पीड़ित किसानों के कष्ट काटने के लिए यह जब चम्पारन जाते हैं तो किसानों की सभा करते हैं। दूर-दूर से किसान मीटिंग में आकर उपस्थित होते हैं। गांधीजी जब उस मीटिंग में जाते हैं तब उन्हें लगता है, मानों ईश्वर के सामने खड़े हैं। "यह कहना अत्युक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सत्य है कि उस सभा में मैंने ईश्वर, अहिंसा और सत्य, तीनों के साक्षात् दर्शन किये।" और फिर जब पकड़े जाते हैं तो हाकिम के सामने जो बयान देते हैं, वह सब प्रकार से प्रभावशाली और सौजन्यपूर्ण होता है। उसमें भी अन्त में कहते हैं, "श्रीमान् मजिस्ट्रेट साहब, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह इसलिए नहीं कि आप मेरे गुनाह की उपेक्षा करके मुझे कम सज़ा दें। मैं केवल यही बता देना चाहता हूँ कि मैंने आपकी आज्ञा भंग की, वह इसलिए नहीं कि मेरे दिल में सरकार के प्रति इज्ज़त नहीं है, पर इसलिए कि ईश्वर

की आज्ञा के सामने मैं आपकी आज्ञा मान ही नहीं सकता था।"

ये असाधारण वचन हैं। एक तरह से भयंकर भी हैं। क्या हो यदि हर मनुष्य इस तरह के वचन बोलने लग जाये ? "अन्दरूनी आवाज़", "अन्तर्नाद" या "आकाशवाणी" सुनना हरएक की क़िस्मत में नहीं बदा होता। इन चीज़ों के लिए पात्रता चाहिए। कर्मों के पीछे त्याग और तप चाहिए। सत्य चाहिए। साहस चाहिए। विवेक चाहिए। समानत्व चाहिए। अपरिग्रह चाहिए। जो केवल सेवा के लिए ही ज़िन्दा है, जिसे हानि-लाभ में कोई आसक्ति नहीं, कोई ममता नहीं, जिसने कर्मयोग को साधा है, जिसकी ईश्वर में असीम श्रद्धा है, जिसको अभिमान छूतक नहीं गया—वही मनुष्य अन्तर्नाद सुन सकता है। पर झूठी नक़ल तो सभी कर सकते हैं। "मुझे अन्दरूनी आवाज़ कहती है", ऐसा कथन कई लोग करने लगे हैं। गांधीजी की झूठी नक़ल अवश्य ही भयप्रद है, पर कौन-सी अच्छी चीज़ का संसार में दुरुपयोग नहीं होता ?

पर प्रस्तुत विषय तो गांधीजी की ईश्वर में श्रद्धा दिखाना है। लड़के का बुखार छूटता है तो ईश्वर की मर्ज़ी से, गाड़ी में जगह मिलती है तो ईश्वर की मर्ज़ी से, और सरकारी हुक्म की अवज्ञा होती है तो ईश्वर की आज्ञा से।

बा

ऐसे पुरुष के साथ कभी-कभी सांसारिक भाषा में बात करनेवालों को चिढ़ होती है, वाइसराय विलिंग्डन को भी चिढ़ थी। पर आखिर गांधीजी के बिना काम भी तो नहीं चलता। चिढ़ हो तो हो। पेचदार भाषा की उलझन सामने होते हुए भी काम तो इन्हींसे लेना है। राजकोट में जब आमरण उपवास किया, तब वाइसराय लिनलिथगो ने इन्हें तार भेजा कि "उपवास करने से पहले आप कम-से-कम मुझे सूचना तो दे देते। आप तो मुझे जानते हैं, इसलिए यकायक आपने यह क्या किया?" गांधीजी ने लिखा, "पर मैं क्या करता? जब अन्तर्नाद होता है, तब कैसी सलाह और कैसा मशविरा?"

बात-बात में ईश्वर को सामने रखकर काम करने और बात कहने की इनकी आदत, यह कोई अव्याव-हारिक वस्तु नहीं है। बात यह है कि गांधीजी की हर चीज़ में जो धार्मिक दृष्टि है वह हम सबके लिए समझना कठिन है। उनकी जीती-जागती ईश्वर के प्रति सतत श्रद्धा को हम समझ नहीं सकते। इसलिए हमें कभी परेशानी, तो कभी चिढ़ होती है। पर यदि हम बेतार के तार के विज्ञान को पूरा न समझते हों, तो क्या उस वैज्ञानिक से परेशान हो जायेंगे, जो हमें इस विज्ञान को समझाने की कोशिश करता हो? क्या हम उस वैज्ञानिक से चिढ़ जायेंगे,

जो हमसे वैज्ञानिक भाषा में उस विज्ञान की चर्चा करता है, जिसे हम समझ नहीं पाते; क्योंकि हम उस भाषा से अनभिज्ञ हैं ? गांधीजी का भी वही हाल है। अध्यात्म-विज्ञान के मर्म को उन्होंने पढ़कर नहीं, बल्कि आचरण द्वारा पहचाना है।

गांधीजी में जब धर्म की भावना जाग्रत हुई तब उन्होंने अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया। हिन्दू-धर्म की खोज की। ईसाई-मत का अध्ययन किया। इस्लाम के ग्रन्थ पढ़े। जरथुस्त्र की रचनाएँ पढ़ीं। चित्त को निर्विकार रखकर बिना पक्षपात के सब धर्मों के तत्त्वों को समझने की कोशिश की। आसक्ति-रहित होकर सत्य-धर्म को, जो गुफा में छिपा था, जानने का प्रयत्न किया। **"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां।"** इससे उनकी निरपेक्षता बढ़ी, उनका प्रयत्न तेजस्वी बना, पर उन्हें सत्य मिला। उनमें बल आया। उनमें नीर-क्षीर-विवेक आया। साथ ही निश्चयात्मक बुद्धि भी प्रबल हुई। उनके निश्चय फौलाद के बनने लगे। अन्तर्नाद सुनाई देने लगा। इस अन्तर्नाद की चर्चा में उनका संकोच भागा।

पर क्या वह हवा में उड़ते हैं ? क्या वह अव्याव-हारिक बन गये हैं ? तो फिर यह भी पूछा जाये कि क्या एक वैज्ञानिक अव्यावहारिक होता है ? गांधीजी इकहत्तर साल के हो चुके। इन इकहत्तर सालों में इन्होंने इतना नाम पाया, जितना अपने जीवन में किसी महापुरुष ने नहीं कमाया। संसार इन्हें, एक महात्मा की अपेक्षा, एक महान् राजनीतिज्ञ नेता के रूप में ज्यादा जानता है। संकुचित विचार के अंग्रेज़ इन्हें एक छलिया, फरेबी, पेचीदा और कूट राजनीतिज्ञ समझते हैं। कट्टरपंथी मुसलमान इन्हें एक धूर्त और चालबाज़ हिन्दू समझते हैं, जिसका एकमात्र उद्देश है हिन्दू-राज की स्थापना। इससे कम-से-कम इतना तो प्रकट है कि यह कोई हवाई उड़ानवाले अव्याव-हारिक पुरुष तो नहीं हैं। भारत की नाव का जिस चातुरी, धीरज और हिम्मत के साथ इन्होंने पहले बीस साल अफ्रीका में और फिर पचीस साल स्वदेश में संचालन किया, उसे देखकर चकित होना पड़ता है। यह कोई

अव्यावहारिक मनुष्य का काम नहीं था। इनका राजनीति में इन बीस सालों में एकछत्र राज रहा है। किसीने इन्हें चुनौती नहीं दी; और यदि दी तो वह स्वयं गिर गया। गांधीजी राजनीति में आज एक अत्यावश्यक, एक अपरित्याज्य व्यक्ति बन गये हैं। क्या यह हवा में विचरने का सबूत है ? इनके पास सिवा प्रेम के बल के और कौन-सा बल है ? पर इस प्रेम के बल ने इनके अनुयायियों के दिल में एक सिक्का जमा दिया है। इनके विपक्षियों पर इस प्रेम की छाप पड़ी है। ऐसे राजनीतिज्ञ नेता को कौन अव्यावहारिक कहेगा ? जो मनुष्य देश के लोगों में एक ज़ोरदार राजनैतिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक प्रगति पैदा करदे और उन्हें इन तमाम क्षेत्रों में बड़े ज़ोर से उठाये, उसे भला कौन हवाई क़िले का बाशिंदा कहेगा ? मेरा खयाल है, गांधीजी से बढ़कर चतुर और व्यावहारिक राजनीतिज्ञ कम देखने में आते हैं।

पर असल बात तो यह है कि गांधीजी के जीवन में राजनीति गौण है। असल चीज़ तो उनमें है धर्मनीति। राजनीति उन्होंने धारण की; क्योंकि यह भी उनके लिए मोक्ष का एक साधन है। खादी क्या, हरिजन-कार्य क्या, जल-चिकित्सा क्या, और बछड़े की हत्या क्या, सारी-की-सारी उनकी हलचलें मोक्ष के साधन हैं। लक्ष्य

उनका है—ईश्वर-साक्षात्कार। उपरोक्त सब व्यवसाय उनके लिए केवल साधन हैं। गांधीजी को जो केवल एक राजनैतिक नेता के रूप में देखते हैं, उनके लिए गांधीजी की ईश्वर की रटंत, उनकी प्रार्थना, उनका अंतर्नाद, उनकी अहिंसा, उनकी अन्य सारी आध्यात्मिकता, ये सब चीज़ें पहेली हैं। जो उन्हें आत्मज्ञानी के रूप में देखते हैं उनके लिए उनकी राजनीति केवल साधनमात्र दिखाई देती है।

**"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।**
**योगारूढस्यतस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥"**

गीता के इस तत्त्व को समझकर हम गांधीजी का अध्ययन करें, तो फिर वह पहेली नहीं रहते।

"तो क्या एक अध्यात्मवादी राजनीति का सुचारु रूप से संचालन कर सकता है?" यह प्रश्न कई लोग करते हैं।

इसका उत्तर यही है कि यदि नहीं संचालन कर सकता तो क्या एक झूठा, अकर्मण्य, लोभी, स्वार्थी, अधार्मिक आदमी कर सकता है? यदि एक निःस्वार्थ, ईश्वर-भक्त मनुष्य राजनीति का संचालन नहीं कर सकता, तो फिर गीता को पढ़कर हमें रद्दी की टोकरी में फेंक देना चाहिए। यदि राजनीति झूठ और दाँव-फ़रेब की ही

एक कला है, तो फिर **"यतो धर्म्मस्ततोजयः"** के कोई माने नहीं ।

हमने ग़लती से यों मान रक्खा है कि धर्म और राजनीति ये दो असंगत वस्तुएँ हैं। गांधीजी ने इस भ्रम का छेदन किया और अपने आचरणों से हमें यह दिखा दिया कि धर्म और अर्थ दो चीज़ें नहीं हैं। सबसे बड़ा अर्थ है : परम+अर्थ=परमार्थ । गीता ने जो कहा, उसका आचरण गांधीजी ने किया । जिस चीज़ को हम केवल पाठ की वस्तु समझते थे वह आचरण की वस्तु है, कोरी पाठ की नहीं, गांधीजी ने हमें यह बताया। गांधीजी ने कोई नई बात नहीं की। राजनीति और धर्मनीति का जिस तरह श्रीकृष्ण ने समन्वय किया, जिस तरह जनक ने राजा होकर विरक्त का आचरण किया, उसी तरह कर्म-योग को गांधीजी ने अपने आचार द्वारा प्रत्यक्ष किया । जिस तलवार में ज़ंग लग चुका था उसे गांधीजी ने फिर से सान पर चढ़ाकर नया कर दिया ।

## १०

उन्तीस अप्रैल, सन् १९३३ की बात है। उन दिनों हरिजन-समस्या गांधीजी का काफ़ी हृदय-मंथन कर रही थी। यरवडा-पैक्ट के बाद देश में एक नई लहर आ रही थी। जगह-जगह उच्चवर्ण हिन्दुओं में हज़ारों सालतक हरिजनों के प्रति किये गये अत्याचारों के कारण आत्मग्लानि जाग्रत हो रही थी। हरिजन-सेवक-संघ ज़ोर-शोर से अपना सेवा-कार्य विस्तृत करता जा रहा था। गांधीजी के लेखों ने हरिजन-कार्य में एक नई प्रगति ला दी थी। सत्याग्रह तो ठंडा पड़ चुका था। वाइसराय विलिंग्डन ने मान लिया था कि गांधीवाद का सदा के लिए खात्मा होने जा रहा है। पर प्रधानमंत्री रेम्ज़े मैक्डॉनल्ड के निर्णय के विरुद्ध गांधीजी के आमरण उपवास ने, एक ही क्षण में आये हुए शैथिल्य का नाश करके एक नया चैतन्य ला दिया। लोगों ने राजनैतिक सत्याग्रह को तो वहीं छोड़ा और चारों तरफ़ से हरिजन-कार्य में उमड़ पड़े। यह एक चमत्कार था। वर्षों से

गांधीजी हरिजन-कार्य का प्रचार करते थे, पर उच्चवर्ण हिन्दुओं की आत्मा को वह जाग्रत नहीं कर सके थे। अब जो काम वर्षों में नहीं हो पाया था वह अचानक हो गया।

पर जैसे हर क्रिया के साथ प्रतिक्रिया होती है वैसे ही हरिजन-कार्य के सम्बन्ध में भी हुआ। एक तरफ़ हरिजनों के साथ ज़बर्दस्त सहानुभूति बढ़ी, तो दूसरी ओर कट्टर विचार के रूढिचुस्त लोगों में कट्टरता बढ़ी।

हरिजनों के साथ जो दुर्व्यवहार होते आये थे वे शहरी और नये विचार के लोगों के लिए कल्पनातीत हैं। इन सात सालों में उच्चवर्णीय हिन्दुओं की मनोवृत्ति में आशातीत परिवर्तन हुआ है। पर उन दिनों स्थिति काफ़ी भयंकर थी। दक्षिण में तो केवल अस्पृश्यता ही नहीं थी, बल्कि कुछ क़िस्म के हरिजनों को तो देखनेमात्र में पाप माना जाता था! हरिजनों को ओसर-मोसर पर हल्वा नहीं बनाने देना, घी की पूरी नहीं बनाने देना, पाँव में चाँदी का कड़ा नहीं पहनने देना, घोड़े पर नहीं चढ़ने देना, पक्का मकान नहीं बनाने देना, ये साधारण दुर्व्यवहारों की श्रेणी में गिने जानेवाले अत्याचार तो प्रायः सभी प्रान्तों और प्रदेशों में उन दिनों पाये जाते थे, जो अब काफ़ी कम हो गये हैं।

हरिजनों ने जब इस जाग्रति के कारण कुछ निडरता दिखानी शुरू की, तो कट्टर विचार के लोगों में क्रोध की मात्रा उफन पड़ी। जगह-जगह हरिजनों के साथ मारपीट होने लगी। गांधीजी के पास ये सब समाचार जेल में पहुँचते थे। उनका विषाद इन दुर्घटनाओं से बढ़ रहा था। अस्पृश्यता हिन्दूधर्म का कलंक है और उच्चवर्ण-वालों के सिर पर इस पाप की जिम्मेदारी है, ऐसा गांधीजी बराबर कहते आये हैं। हरिजनों के प्रति सद्-व्यवहार करके हम पाप का प्रायश्चित्तमात्र करेंगे, ऐसा गांधीजी का हमेशा से कथन था। गांधीजी स्वयं उच्च-वर्णीय हैं, इसलिए यह अत्याचार उन्हें काफ़ी पीड़ित कर रहा था। हृदय में एक तूफान चलता था। क्या करना चाहिए, इसके संकल्प-विकल्प चलते थे। पंडितों से पत्रव्यवहार चल रहा था। "ईश्वर यह अत्याचार क्यों चलने देता है? रावण राक्षस था, पर यह अस्पृश्यता-रूपी राक्षसी तो रावण से भी भयंकर है। और इस राक्षसी की धर्म के नाम पर जब हम पूजा करते हैं, तब तो हमारे पाप की गुरुता और भी बढ़ जाती है। इससे हब्शियों की गुलामी भी कहीं अच्छी है। यह धर्म—इसे धर्म कहें तो—मेरी नाक में तो बदबू मारता है। यह हिन्दूधर्म हो ही नहीं सकता। मैंने तो हिन्दूधर्म द्वारा

ही ईसाई धर्म और इस्लाम का आदर करना सीखा है। फिर यह पाप हिन्दूधर्म का अंग कैसे हो सकता है ? पर क्या किया जाये ?''

इस तरह के विचार करते-करते गांधीजी २९ अप्रैल की रात को जेल में सोये। कुछ ही देर सोये होंगे। इतने में रात के ११ बजे। जेल में सन्नाटा था। वसंत का प्रवेश हो चुका था। रात सुहावनी थी। मीठी हवा चल रही थी। क़ैदी सब सो रहे थे। केवल प्रहरी लोग जाग्रत थे। ११ बजे के कुछ ही समय बाद गांधीजी की आँख खुली। नींद भाग गई। चित्त में महासागर का-सा तूफ़ान हिलोरें खाने लगा। बेचैनी बढ़ने लगी। ऐसा मालूम देता था कि हृदय के भीतर एक संग्राम चल रहा है। इसी बीच एक आवाज़ सुनाई दी। मालूम होता था कि यह आवाज़ दूर से आ रही है, पर तो भी ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे कोई निकट से बोल रहा हो। पर वह आवाज़ ऐसी थी, जिसकी हुक्मउदूली असम्भव थी। आवाज़ ने कहा—''उपवास कर।'' गांधीजी ने इसे सुना। उनको सन्देह नहीं रहा। उनको निश्चय होगया कि यह ईश्वरीय वाणी है। अब संग्राम शांत होगया। बेचैनी दूर हुई। गांधीजी स्वस्थ होगये। उपवास कितने दिन का करना तथा कब प्रारम्भ करना इसका निर्णय

करके उन्होंने इस सम्बन्ध में अपना वक्तव्य भी लिख डाला और फिर गाढ़ निद्रा में मग्न होकर सो गये।

ब्राह्ममुहूर्त में उठकर वल्लभभाई और महादेवभाई के साथ प्रार्थना की। **"उठ जाग मुसाफिर भोर भयो, अब रैन कहाँ जो सोवत है,"** यह भजन महादेवभाई ने अनायास ही प्रार्थना में गाया। गांधीजी ने महादेवभाई से कहा कि तुम रात को जागे हो, इसलिए थोड़ा आराम और करलो। महादेवभाई लेट गये। उन्हें तो पता भी नहीं था कि गांधीजी ने क्या भीषण संकल्प कर डाला है। गांधीजी ने जो वक्तव्य तैयार किया वह वल्लभभाई को सौंपा। सरदार ने उसे एक बार पढ़ा, दो बार पढ़ा, फिर तो सन्न होगये। इसमें तर्क को कोई स्थान नहीं था। और सरदार तो गांधीजी के स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं। "नियागरा के जल-प्रपात को रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ है। महादेव, इनसे बढ़कर शुद्ध-बुद्ध और कौन है ? जो बढ़कर हो वह इनसे तर्क करे। मैं तो नहीं करूँगा।" इतना ही सरदार ने महादेवभाई से कहा और **"ईश्वरेच्छा बलीयसी,"** ऐसा समझकर चुप होगये।

महादेवभाई ने साधारण तर्क किया, पर अन्त में ईश्वर पर भरोसा करके वह भी चुप हो गये। दूसरे दिन तो सब जगह खबर पहुँच गई। सारे देश में सन्नाटा छा

गया। मैं ठहरा हरिजन-सेवक-संघ का अध्यक्ष। मेरे पास सन्देश पहुँचा, जिसमें गांधीजी ने यह भी कहा कि पूना मत आओ। वहीं जो कर्त्तव्य है सो करो। मुझे स्पष्ट याद आता है कि मुझे और ठक्कर बापा को यह सन्देश पाकर विशेष चिन्ता न हुई। गांधीजी इतनी भीषण आफतों में से सही-सलामत निकल चुके हैं कि इस अग्नि-परीक्षा में भी वह सफलतापूर्वक उत्तीर्ण होंगे, ऐसा मुझे दृढ विश्वास था। इसलिए मैंने तो यही लिख दिया कि "ईश्वर सब मंगल करेगा। हम आपके लिए अहर्निश शुभ प्रार्थना करेंगे। आपका उपवास सफल हो और वह सबका मंगल करे।"

पर राजाजी को इतनी जल्दी कहाँ सन्तोष होता था ? गांधीजी से काफी शास्त्रार्थ किया, तर्क किया, पर एक न चली। देवदास ने भी अत्यन्त उदासी के साथ मिन्नत-आरज़ू की। जनरल स्मट्स ने अफ्रीका से एक लम्बा तार भेजा कि आप ऐसा न करें। पर ईश्वरीय आज्ञा के सामने गांधीजी किसीकी सुननेवाले थे ? सरकार ने भी जब देखा कि उपवास हो रहा है, तो उन्हें पूना में लेडी ठाकरसी के भवन "पर्णकुटी" में पहुँचा दिया।

इक्कीस दिन का यह उपवास एक दुष्कर चीज़ थी। इससे कुछ ही महीनों पहले एक उपवास हो चुका था।

उससे काफ़ी कमज़ोरी आ गई थी। उस पहले उपवास में कुछ ही दिनों बाद प्राण संकट में आगये थे, इसलिए इस उपवास में प्राण बचेंगे या नहीं, ऐसी अनेक लोगों को शंका थी। पर गांधीजी ने कहा : "मुझे मृत्यु की अभिलाषा नहीं है। मैं हरिजनों की सेवा के लिए ज़िन्दा रहना चाहता हूँ। पर यदि मरना ही है तो भी क्या चिन्ता ? अस्पृश्यता की गन्दगी जितनी मैंने जानी थी, उससे कहीं अधिक गहरी है, इसलिए यह आवश्यक है कि मैं और मेरे साथी, यदि ज़िन्दा रहना है तो, अधिक स्वच्छ बनें। यदि ईश्वर की यह मंशा है कि मैं हरिजनों की सेवा करूँ, तो मेरा भौतिक भोजन बन्द होने पर भी ईश्वर मुझे जो आध्यात्मिक भोजन भेजता रहेगा वह इस देह को टिकाये रक्खेगा। और यदि सब अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहेंगे, तो वह भी मेरे लिए भोजन का काम देगा। कोई अपने स्थान से न हटें। कोई मुझे उपवास रोकने को न कहें।"

८ मई १९३३ को उपवास शुरू हुआ और २९ मई को ईश्वर की दया से सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। उपवास की समाप्ति के कई दिनों बाद गांधीजी ने कहा : "यह उपवास क्या था मेरी इक्कीस दिन की निरन्तर प्रार्थना थी। इसका जो मेरे ऊपर अच्छा असर हुआ

उसका मैं अब अनुभव कर रहा हूँ। यह उपवास केवल पेट का ही निराहार न था, बल्कि सारी इन्द्रियों का निराहार था। ईश्वर में संलग्न होने के माने ही हैं तमाम शारीरिक क्रियाओं की अवहेलना, और वह इस आत्यंतिक हदतक कि हम केवल ईश्वर के सिवा और सभी चीज़ों को भूल जायें। ऐसी अवस्था सतत प्रयत्न और वैराग्य के बाद ही प्राप्त होती है। इसलिए तमाम ऐसे उपवास एक तरह की अव्यभिचारिणी ईश्वर-भक्ति है, ऐसा कहना चाहिए।"

१९२४ की गर्मियों की बात है। गांधीजी जेल से छूटकर आये थे। अपेंडिक्स का आपरेशन हुआ ही था। शरीर कुछ दुर्बल था। इसलिए स्वास्थ्य-लाभ के लिए जुहू ठहरे हुए थे। मैं रोज़ उनके साथ टहलता था। पास में बैठता था। घंटों हर विषय पर उनसे चर्चा करता था। एक रोज़ ईश्वर पर चर्चा चली, तो मैंने प्रश्न किया कि क्या आप मानते हैं कि आप ईश्वर का साक्षात्कार कर चुके हैं?

"नहीं, मैं ऐसा नहीं मानता। जब मैं अफ्रीका में था, तो मुझे लगता था कि मैं ईश्वर के अत्यन्त निकट पहुँच गया हूँ। पर मुझे लगता है कि उसके बाद मेरी अवस्था उन्नत नहीं हुई है। बल्कि मैं सोचता हूँ तो लगता है

कि मैं पीछे हटा हूँ। मुझे क्रोध नहीं आता, ऐसी अवस्था नहीं है। पर क्रोध का मैं साक्षी हूँ, इसलिए मुझपर क्रोध का स्थायी प्रभाव नहीं होता। पर इतना तो है कि मेरा उद्योग उग्र है। आशा तो यही करता हूँ कि इसी जीवन में साक्षात्कार करलूँ। पर बाज़ी तो भगवान् के हाथ में है। मेरा उद्योग जारी है।''

इन बातों को भी आज सोलह साल हो गये। इसके बाद मैंने न कभी कौतूहल किया, न ऐसे प्रश्न पूछे। पर मैं देखता हूँ कि ईश्वर के प्रति उनकी श्रद्धा और आत्म-विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। पिछले दिनों किसीसे बात करते-करते कहने लगे :

''अब मुझसे ज्यादा बहस-मुबाहिसा नहीं होता। मुझे मौन प्रिय लगता है। पर मैं ऐसा नहीं मानता कि मूक वाणी का कोई असर नहीं है। असलीयत तो यह है कि मूक वाणी की शक्ति स्थूल वाणी से कहीं अधिक बलवती है। लोग सत्याग्रह की बात करते हैं। सत्याग्रह जारी हुआ तो यह निश्चय मानना कि बीते काल में जिस तरह मुझे दौरा करना पड़ता था या व्याख्यान देना पड़ता था वैसी कोई क्रिया मुझे अब नहीं करनी पड़ेगी। ऐसा समझ लो कि मैं सेवाग्राम में बैठा हुआ ही नेतृत्व कर लूँगा, इतना आत्म-विश्वास तो आ चुका है। यदि मुझे ईश्वर

का पूर्ण साक्षात्कार हो जाये तब तो मुझे इतना भी न करना पड़े। मैंने संकल्प किया कि कार्य बना। उस स्थिति के लिए भी मेरे प्रयत्न जारी हैं।''

ये मर्मस्पर्शी वाक्य हैं। हमारे भीतर कैसी अकथ शक्ति भरी है, जिसको हम ईश्वर के नाम से भी पुकार सकते हैं, इसका स्मरण हमें ये शब्द कराते हैं।

अमुक काम में ईश्वर का हाथ था, ऐसा तो गांधीजी ने कई बार कहा है, पर प्रत्यक्ष आकाशवाणी हुई है, यह उनका शायद प्रथम अनुभव था। मेरा ख़याल है कि ईश्वर की उनकी असीम श्रद्धा का यह सबसे बड़ा प्रदर्शन था। मैंने उनसे इस आकाशवाणी के चमत्कार पर लम्बी बातें कीं। पर बातें करते समय मुझे लगा कि इस चीज़ को मुझे पूर्णतया अनुभव कराने के लिए उनके पास कोई सुगम भाषा नहीं थी। कितनी भी सुगमता से समझायें, कितनी भी प्रबुद्ध भाषा का उपयोग करें, आखिर जो चीज़ भाषातीत है, उसको कोई क्या समझाये? जब हम कहते हैं कि एक आवाज़ आई, तब हम महज़ एक मानवी भाषा का ही प्रयोग करते हैं। ईश्वर की न कोई आकृति हो सकती है, न शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इत्यादि से ईश्वर बाधित है। फिर उसकी आवाज़ कैसी, आकृति कैसी? फिर भी आवाज़ तो आई। उसकी भाषा
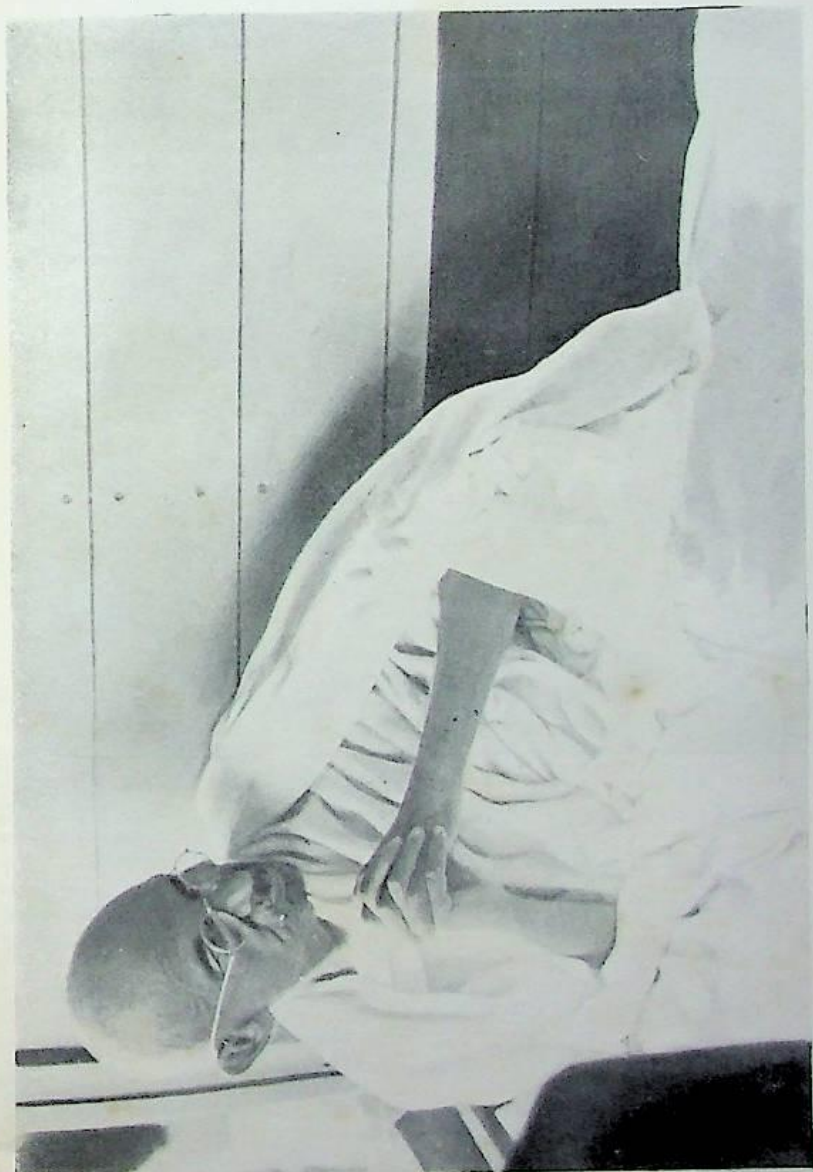
बापू : रेल में यात्रा करते हुए

[ डी. के. शेठ वढ़वाण के सौजन्य से ]
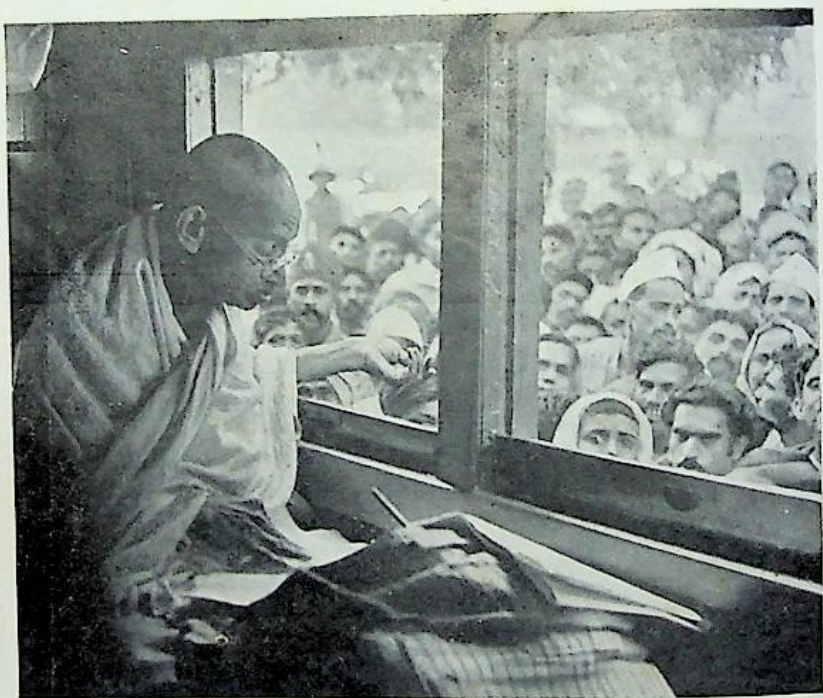
"भिक्षां देहि"

[ फोटो—श्री कनु गांधी, सेवाग्राम, के सौजन्य से ]

कौन-सी ? "वही भाषा जो हम स्वयं बोलते हैं।" "उसके माने हैं कि हमें लगता है कि कोई हमसे कुछ कह रहा है। पर ऐसा तो भ्रम भी हो सकता है।" "हाँ, भ्रम भी हो सकता है, पर यह भ्रम नहीं था।" इसके यह भी माने हुए कि उस "वाणी" को सुनने की पात्रता चाहिए। एक मनुष्य को भ्रम हो सकता है। वह उसे आकाश-वाणी कहेगा, तो ख्वामख्वाह अंधश्रद्धा फैलायेगा। दूसरा अधिकारी है, जाग्रत है। वह कह सकता है कि यह भ्रम नहीं था। आकाशवाणी भी अन्य चीज़ों की तरह उसका पात्र ही सुन सकता है। सूर्य का प्रतिबिंब शीशे पर ही पड़ेगा, पत्थर पर नहीं।

इक्कीस दिन का यह धार्मिक उपवास गांधीजी के अनेक उपवासों में से एक था। छोटे-छोटे उपवासों की हम गणना न करें, तो भी अबतक शायद दस-बारह तो इनके ऐसे बड़े उपवास हो ही चुके हैं, जिनमें इन्होंने प्राणों की बाज़ी लगाई।

जैसे और गुणों के विषय में, वैसे ही उपवास के विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रवृत्ति कैसे जाग्रत हुई। गुलाब का फूल पहले जन्मा या उसकी सुगन्ध ? कौन-सी प्रवृत्ति पहले जाग्रत हुई, कौन-सी पीछे, इसका हिसाब लगाना यद्यपि दुष्कर है, पर इतना तो हम

देख सकते हैं कि इनकी माता की उपवासों की वृत्ति ने शायद इनकी उपवास-भावना को जाग्रत किया। इनकी माता अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति की थीं। उपवासों में उन्हें काफ़ी श्रद्धा थी। छोटे-मोटे उपवास तो सालभर होते ही रहते थे। पर "चातुर्मास" में तो एक ही वेला भोजन होता था। और "चान्द्रायण" व्रत इनकी माता ने कई किये। एक "चातुर्मास" में इनकी माता ने व्रत लिया कि सूर्य-दर्शन के बिना भोजन नहीं करूँगी। बरसात में कभी-कभी सूर्य कई दिनोंतक निकलता ही नहीं था। निकलता भी था तो कुछ चन्द मिनटों के लिए। बालक गांधी छत पर चढ़े-चढ़े इकटक सूर्य के दर्शन की प्रतीक्षा करते रहते और दर्शन होते ही माँ को खबर देते। पर कभी-कभी बेचारी माँ पहुँचे, उससे पहले ही सूर्यदेवता तो मेघाच्छन्न आकाश में लोप हो जाते थे। पर माँ को इससे असन्तोष नहीं होता था। "बेटा, रहने दो चिन्ता को, ईश्वर ने ऐसा ही चाहा था कि आज मैं भोजन न करूँ।" इतना कहकर वह अपने काम में लग जाती थीं।

बालक गांधी पर इसकी क्या छाप पड़ सकती थी, यह हम सहज ही सोच सकते हैं। और यह छाप ज़बर्दस्त पड़ी। पहला उपवास, मालूम होता है, उन्होंने अफ्रीका में किया, जबकि "टॉल्स्टॉय फार्म" में आश्रम चला रहे

थे। यह कुछ दिनों के लिए बाहर थे। पीछे से आश्रम-वासियों में से दो के सम्बन्ध में इन्हें पता लगा कि उनका नैतिक पतन हुआ है। इससे चित्त को चोट तो पहुँचनी ही थी, पर इन्हें लगा कि ऐसे पतन की ज़िम्मेदारी कुछ हदतक आश्रम के गुरु पर भी रहती है। और चूँकि आश्रम के संचालक गांधीजी थे, इस दुर्घटना में अपनी ज़िम्मेदारी भी महसूस की। इसके लिए गांधीजी ने सात दिन का उपवास किया। इसके कुछ ही दिन बाद इसी घटना के सम्बन्ध में इन्हें चौदह दिन का एक और उप-वास करना पड़ा।

इसके बाद और अनेक उपवास हुए हैं। स्वदेश लौटने पर ऐसी ही घटनाओं को लेकर एक-दो और उपवास किये। अहमदाबाद की मिल-हड़ताल के लिए एक उपवास किया। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए एक इक्कीस दिन का उपवास किया। हरिजनों की सीटों के सम्बन्ध में प्रधानमन्त्री मॅक्डॉनल्ड के निर्णय के विरुद्ध एक आमरण उपवास किया और फिर हरिजन-प्रायश्चित्त के लिए एक उपवास किया। हरिजन-प्रचार-कार्य के लिए सरकार ने जेल में उनपर बंदिश लगादी, तब एक और उपवास किया। हरिजन-प्रवास की समाप्ति पर कुछ हरिजन-सेवकों के असहिष्णु व्यवहार के प्रायश्चित्तस्वरूप

वर्धा में सात दिन का एक उपवास किया। एक उपवास राजकोट में किया। प्रधानमन्त्री के निर्णय के विरुद्ध जो उपवास किया उसकी सफल समाप्ति में कुछ हिस्सा मेरे भी जिम्मे आया था। इसलिए इस उपवास का निकट से अवलोकन और अध्ययन करने का मुझे काफ़ी मौक़ा मिला।

उन दिनों गांधीजी जेल में ही थे। सत्याग्रह चल रहा था, यद्यपि लोगों की थकान बढ़ती जाती थी। अचानक एक बम गिरा—लोगों ने सुना कि गांधीजी ने आमरण उपवास की ठानी है। चारों तरफ़ खलबली मच गई। मैं तो यह समाचार अख़बारों में पढ़ते ही हक्का-बक्का रह गया। गांधीजी को मैंने तार भेजा कि क्या करना चाहिए ? मैं तो सहम गया हूँ। फौरन उत्तर आया, "चिन्ता की कोई बात नहीं। हर्ष मनाने की बात है। अत्यन्त दलित के लिए यह अंतिम यज्ञ करने का ईश्वर ने मुझे मौक़ा दिया है। मुझे कोई शंका नहीं कि उपवास स्थगित नहीं किया जा सकता। यहाँ से कोई सूचना या सलाह भेजने की मैं अपने में पात्रता नहीं पाता।" किसीकी समझ में नहीं आया कि क्या करना चाहिए, पर हमारे सब-के-सब मुँह पूना की ओर मुड़े और लोग एक-एक करके वहाँ पहुँचने लगे।

राजाजी, देवदास और मैं तो शीघ्र ही पूना पहुँच गये। पूज्य मालवीयजी, सर तेजबहादुर सप्रू, श्री जयकर, राजेन्द्रबाबू, रावबहादुर राजा, ये लोग भी एक के बाद एक बम्बई और फिर पूना पहुँचने लगे। पीछे से डॉक्टर आम्बेडकर को भी बुला लिया गया था। सरकारी आज्ञा लेकर सर पुरुषोत्तमदास, सर चुन्नीलाल, मथुरादास वसनजी और मैं सर्वप्रथम गांधीजी से जेल में मिले। हमलोगों को गांधीजी से जेल-सुपरिटेण्डेण्ट के कमरे में मिलाया गया। उपवास अभी शुरू नहीं हुआ था। कमरा एकतल्ले पर था। उसकी खिड़कियों में से हमें जेल का काफ़ी हिस्सा दृष्टिगोचर होता था। जहाँ फाँसी होती है, वह हाता भी खिड़की में से दिखाई देता था। गांधीजी के आने का रास्ता उसी हाते की दीवार के नीचें से गुज़रता था। मैंने गांधीजी को क़रीब नौ महीने से नहीं देखा था। अचानक खिड़की में से मैंने गांधीजी को तेज़ी के साथ हमारी ओर आते देखा। मैं सब चिंता भूल गया। गांधीजी तो इस तरह सरपट चले आ रहे थे मानों कुछ हुआ ही नहीं था। उनकी तरफ़ फाँसी का हाता था, जहाँ, मैंने सुना, दो-तीन दिन पहले ही एक आदमी को लटकाया गया था। मेरा जी भर आया। यह आदमी और ऐसी जगह पर !

गांधीजी ऊपर कमरे में आये। मैंने बड़े प्रेम से पाँव छुए। फिर तो काम की बातें होने लगीं। उन्होंने बड़ी सावधानी से हर चीज़ ब्योरेवार समझाई। उपवास क्योंकर बन्द हो सकता है, यानी होने के बाद कैसे समाप्त हो सकता है, इसकी शर्तों का ब्योरेवार उन्होंने ज़िक्र किया। बात करने से पहले जहाँ हमें उनका यह कार्य कुछ आवश्यकता से अधिक कठोर लगता था, बात करने पर वह धर्म है, एक कर्त्तव्य है, ऐसा लगने लगा। उनका मानसिक चित्र लेकर हमलोग वापस बम्बई लौटे और पूज्य मालवीयजी और दूसरे नेताओं को सारा हाल सुनाया।

मुझे याद आता है कि उस समय हमारे नेतागण किस तरह अत्यन्त आलस्य के साथ उलझन में पड़े हुए किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। न तो गांधीजी का उपवास किसीको पसन्द था, न उनकी रचनात्मक सलाह की कोई उपयोगिता समझी जाती थी। न किसीको खयाल था कि समय की बरबादी गांधीजी की जान को जोखिम में डाल रही थी। बारबार यही ज़िक्र आता था कि उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। यह उनका बलात्कार है। उन्हें समझाना चाहिए कि वह अब भी उपवास छोड़ दें। यह कोई महसूस भी नहीं करता था कि न तो वह उपवास

छोड़ सकते थे, न यह समालोचना का ही समय था। हमारे सामने एक ही प्रश्न था कि कैसे उस गुत्थी को सुलझाकर गांधीजी की प्राण-रक्षा की जाये। मुझे स्पष्ट याद है कि नेताओं में एक मनुष्य था, जिसका दिमाग़ कुछ रचनात्मक कार्य कर रहा था। वह था सर तेजबहादुर सप्रू। पर गांधीजी की प्राण-रक्षा का ज़िम्मा तो असल में ईश्वर ने ले रक्खा था। हम वृथा ही चिन्ता करते थे।

हालाँकि गांधीजी ने उपवास शुरू करने से पहले काफ़ी समय दे दिया था, पर उस समय का कोई भी सार्थक उपयोग न हो सका। गांधीजी यदि स्वयं सारा कारबार अपने हाथ में न ले लेते, तो कोई उपयोगी काम होता या नहीं, इसमें भी मुझे शक है। उपवास शुरू होते ही सरकार ने जेल के दरवाज़े खोल दिये। नतीजा इसका यह हुआ कि गांधीजी से मिलना-जुलना बिना किसी रोक-टोक के होने लगा। इसलिए इस व्यवसाय की सारी बागडोर पूर्णतया गांधीजी के हाथों में चली गई। सरकार का तो यही कहना था कि हरिजन और उच्चवर्ण के लोगों के बीच जो भी समझौता हो जाये, उसको सरकार मान लेगी। इसलिए वास्तविक काम यही था कि उच्चवर्ण और हरिजन नेताओं के बीच समझौता हो।

वैसे तो हम लोग समझौते की चर्चा में रात-दिन

लगे रहते थे, पर दरअसल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में तो दो ही मनुष्यों को निर्णय करना था। एक ओर गांधीजी और दूसरी ओर डॉक्टर आम्बेडकर। पर इन सिद्धान्तों की नींव पर भी तो एक भीत चुननी थी। उसमें सर तेजबहादुर सप्रू की बुद्धि का प्रकाश हम लोगों को काफ़ी सहायता दे रहा था। मैंने देखा कि गांधीजी यद्यपि धीरे-धीरे निर्बल होते जाते थे, पर मानसिक सतर्कता में किसी तरह का कोई फ़र्क़ न पड़ा। बराबर दिनभर कभी उच्चवर्ण के नेताओं से, तो कभी आम्बेडकर से उनका सलाह-मशवरा चलता ही रहता था।

राजाजी, देवदास और मैं अपने ढंग से काम को प्रगति दे रहे थे। पर बागडोर तो सम्पूर्णतया गांधीजी के ही हाथ में थी। गांधीजी का धीरज, उनकी असीम श्रद्धा, उनकी निर्भयता, उनकी अनासक्ति, यह सब उस समय देखने ही लायक़ थी। मौत दरवाज़े पर खड़ी थी। सरकार क्रूरतापूर्वक तटस्थ होकर खड़ी थी। आम्बेडकर का हृदय कटुता से भरा था। और हिन्दू नेता सुबह से शाम और शाम से सुबह कर देते थे, पर समझौता अभी कोसों दूर था। राजाजी, देवदास और मुझको कभी-कभी झुँझलाहट होती थी। पर गांधीजी सारी चिन्ता ईश्वर को समर्पण करके शान्त पड़े थे।

एक रोज़ जब जेल के भीतर मशवरा चल रहा था, तब गांधीजी ने कुछ हिन्दू नेताओं से कहा, "घनश्यामदास ने मेरी एक सूचना आपको बताई होगी।" एक नेता ने झटपट कह दिया, "नहीं, हमें तो कुछ मालूम नहीं।" गांधीजी ने एक क्षणिक रोष के साथ कहा, "यह मेरे दुर्भाग्य की बात है।" मुझे चोट लग गई। मैं जानता था और यह नेता भी जानते थे कि गांधीजी की सारी सूचना मैं उन्हें दे चुका था। पर जो लोग गांधीजी को एक अव्यावहारिक, हवा में तैरनेवाला शख्स मानते हैं, उन्हें गांधीजी की सूचना सुननेतक की फ़ुरसत नहीं थी। उस सूचना को उन्होंने महज़ मज़ाक में उड़ा दिया था। मैंने सब बातें याद दिलाईं और इस-पर उन नेता ने अपनी भूल सुधारी। पर बुरा असर तो हो ही चुका था। इसी तरह किसी छोटी-सी बात पर उस रोज़ देवदास और राजाजी पर भी गांधीजी को थोड़ा रोष आ गया था। रात को नौ बजे सोने के समय गांधीजी को विषाद होने लगा। "मैंने रोष करके अपने उपवास की महिमा गिरादी।" रोष क्या था, एक पल-भर का आवेश था। पर गांधीजी के स्वभाव को इतना भी असह्य था। अपना दोष तिलभर भी हो तो उसे पहाड़ के समान मानना और पराया दोष पहाड़ के समान

हो तो भी उसे तिल के जितना देखना, यह उनकी फिलॉसफी है। विहार में जब भूकम्प हुआ, तो उन्होंने उसे "हमारे पापों का फल" माना।

गांधीजी ने तुरन्त राजाजी को तलब किया और उनके सामने अत्यन्त कातर हो गये। आँखों से अश्रुओं की झड़ी लग गई। रात को ग्यारह बजे जेलवालों की मार्फत डेरे पर से देवदास की और मेरी बुलाहट हुई। मैं तो सो गया था, पर देवदास गया। गांधीजी ने उससे "क्षमा" चाही। पिता पुत्र से क्या क्षमा माँगे? पर एक महापुरुष पिता यदि अपना व्यवहार सौ टंच के सोने के जितना निर्मल न रक्खे, तो फिर संसार को क्या सिखा सकता है?

राजाजी और देवदास दोनों से गांधीजी ने अत्यन्त खेद प्रकट किया और और कहा कि इसी समय जाकर घनश्यामदास से भी मेरा खेद प्रकट करो। उन्होंने तो मुझे जगाना भी उचित नहीं समझा, क्योंकि इस चीज़ को हमने तिलभर भी महत्त्व नहीं दिया था। पर यह गांधीजी की महिमा है। "आकाशवाणी" वाले उपवास पर भी, जो कुछ महीने बाद किया गया था, इसी तरह राजाजी और शंकरलाल पर उन्हें कुछ रोष आगया था, जिसके लिए उन्होंने राजाजी को एक मुआफ़ी की चिट्ठी

भेजी थी। राजाजी ने तो उस चिट्ठी को मज़ाक में उड़ा दिया, क्योंकि जिस चीज़ को गांधीजी रोष मानते थे, वह हमलोगों की दृष्टि में कोई रोष ही नहीं था।

पर यह तो दूसरे उपवास की बात बीच में आ गई। प्रस्तुत उपवास, जिसका ज़िक्र चल रहा था, वह तो चला ही जाता था। सुबह होती थी और फिर शाम होजाती थी। एक क़दम भी मामला आगे नहीं बढ़ता था। देवदास तो एक रोज़ कातर होकर रोने लगा। गांधीजी की स्थिति नाज़ुक होती जाती थी। एक तरफ़ आम्बेडकर कड़ा जी करके बातें करता था, दूसरी ओर हिन्दू नेता कई छोटी-मोटी बातों पर अड़े बैठे थे। प्रायः मोटी-मोटी सभी बातें तय हो चुकी थीं, पर जबतक एक भी मसला बाक़ी रह जाये, तबतक अन्तिम समझौता आकाश-कुसुम की तरह हो रहा था और अन्तिम समझौता हुए बिना उनकी प्राण-रक्षा असम्भव थी।

हरिजनों को कितनी सीटें दी जायें यह आम्बेडकर के साथ तय कर लिया था। किस प्रान्त में कितने हरिजन हैं, न्यायपूर्वक उन्हें कितनी सीटें मिलें, इसका ज्ञान ठक्कर बापा को प्रचुर मात्रा में था, जो उस समय हमलोगों के काम आया। चुनाव किस तरह हो, इस पद्धति के सम्बन्ध में भी आम्बेडकर से समझौता हो गया। पर यह पद्धति

कितने साल चले, इसपर झगड़ा था। आम्बेडकर चाहता था कि चुनाव की यह पद्धति तो दस साल के बाद समाप्त हो, पर जो सीटें हरिजनों के लिए अलग रिज़र्व की गई हैं, वे अलग रिज़र्व बनी रहें या उच्चवर्ण के हिन्दुओं के साथ ही हरिजनों की सीटें भी सम्मिलित हो जायें और सबका सम्मिलित चुनाव हो, यह प्रश्न पन्द्रह साल के बाद हरिजनों के वोट लेकर उनकी इच्छानुसार निर्णय किया जाये। पर हिन्दू नेता इसके खिलाफ़ थे। वे चाहते थे कि सारी-की-सारी पद्धति एक अरसे के बाद, ज्यादा-से-ज्यादा दस साल के बाद, ख़त्म कर देनी चाहिए। उनकी दलील थी कि अछूतपन कलंक है, इसलिए दस साल में वह मिटा दिया जाये और बाद में राजनीति के क्षेत्र में न कोई छूत रहे न अछूत, सबकी सम्मिलित सीटें हों।

आम्बेडकर साफ़ इन्कार कर गया और मामला फिर उलझ गया। गांधीजी की अपनी और राय थी। आम्बेडकर जब इस सम्बन्ध में जेल में जाकर गांधीजी से बहस करने लगा तब गांधीजी ने कहा, "आम्बेडकर, मैं सारी सीटें बिना हरिजनों की मर्ज़ी के सम्मिलित करने के पक्ष में नहीं हूँ, पर मेरी राय है कि पाँच साल के बाद ही हम हरिजनों की अनुमति का वोट माँगें और उनकी इच्छानुसार निर्णय करें।" पर डाक्टर आम्बेडकर ने कहा कि

दस साल से पहले तो किसी भी हालत में हरिजनों की अनुमति की जानकारी के लिए उनसे वोट न माँगे जायें। यह बहस काफ़ी देरतक चलती रही। गांधीजी की उत्कट इच्छा थी कि पाँच साल के अन्दर-ही-अन्दर सवर्ण अपने आचरण से हरिजनों को संम्पूर्णतया अपना लें। इस काम के लिए इससे अधिक समय का लग जाना उनको कल्पना के बाहर मालूम देता था। राजाजी और मैं चिन्तित भाव से गांधीजी के मुँह की तरफ़ देख रहे थे। मेरे दिल में आता था कि जान की बाज़ी है। गांधीजी क्यों इतना हठ करते हैं ? पर गांधीजी निःशंक थे। उनके लिए जीना-मरना प्रायः एकसमान था। बातें चलती रहीं। अन्त में गांधीजी के मुँह से अचानक निकल गया—"आम्बेडकर, या तो पाँच साल की अवधि, उसके बाद हरिजनों के मतानुसार अन्तिम निर्णय, नहीं तो मेरे प्राण।" हम लोग स्तब्ध हो गये। गांधीजी ने तीर फेंक दिया, अब क्या हो ?

लम्बी साँस लेकर हमलोग वापस डेरे पर आ गये। आम्बेडकर को समझाया, पर वह टस-से-मस न हुआ। उसके कट्टर हरिजन साथी डॉक्टर सोलंकी ने भी उसकी ज़िद को नापसन्द दिया। मैंने राजाजी से कहा कि "राजाजी, क्यों पाँच साल, और क्यों दस साल ? हम यही क्यों न निश्चय रक्खें कि

भविष्य में चाहे जब हरिजनों की अनुमति से हम इस क़रार को बदल सकेंगे।'' राजाजी ने कहा कि गांधीजी को शायद यह पसन्द न आये। मैंने कहा—कुछ हम भी तो ज़िम्मेदारी लें। उन्हें पूछने का अब अवसर कहाँ है? राजाजी ने कहा—तीर चलाओ। मैंने यह प्रस्ताव आम्बेडकर के सामने रक्खा। लोगों ने इसका समर्थन किया और वह मान गया। एक समाप्ति तो हुई। पर गांधीजी की अनुमति तो बाक़ी थी। राजाजी जेल में गये और गांधीजी को यह क़िस्सा सुनाया। उन्होंने क़रार के इस प्रकरण की भाषा ध्यानपूर्वक सुनी। एक बार सुनी, दो बार सुनी, अन्त में धीरे से कहा—''साधु।'' सबके मुँह पर प्रसन्नता छा गई। मैं जब उनकी अनुमति मिल चुकी, तभी उनके पास पहुँचा और उनके चरण छुए। बदले में उन्होंने ज़ोर की थपकी मारी। उपवास खुलने में दो दिन और भी लगे, क्योंकि इतना समय सरकार ने यरवडा-पैक्ट की स्वीकृति देने में लगाया। २० सितम्बर १९३२ को उपवास शुरू हुआ, २४ को यरवडा-पैक्ट बना, २६ को सरकार की स्वीकृति मिली और उपवास टूटा।

पर सरकारी घटना में देखनेलायक चीज़ यह थी कि मौत की साक्षात् मूर्ति भी गांधीजी को एक तिल भी दाएँ-बाएँ नहीं डिगा सकी थी। सभी उपवासों में इनका यही

हाल रहा। राजकोट के उपवास में भी एक तरफ़ मृत्यु की तैयारी थी, वमन जारी था, बेचैनी बढ़ती जा रही थी और दूसरी तरफ़ वाइसराय से लिखा-पढ़ी करना और महादेवभाई और मुझको ( दोनों-के-दोनों हम दिल्ली में थे ) सन्देश भेजना जारी था। इसमें कोई शक नहीं कि हर उपवास में अन्तिम निर्णय--चाहे वह निर्णय हरिजन और उच्चवर्ण के नेताओं के बीच हुआ हो, चाहे वाइसराय और गांधीजी के बीच—गांधीजी की मृत्यु के डर के बोझ के नीचे दबकर हुआ। किसी मरतबा भी शांतिपूर्वक सोचने के लिए न समय था, न अवसर मिला। फिर भी गांधीजी कहते हैं कि "उतावलापन हिंसा है।" तुलसीदासजी ने जब यह कहा कि **"समरथ को नहिं दोष गुसाईं"** तब उन्होंने यह कोई व्यंगोक्ति नहीं की थी। असल बात भी यह है कि समर्थ मनुष्य के तमाम कामों में एकरंगापन देखना, यह बिल्कुल भूल है। एकरंगापन यह ज़रूर होता है कि हर काम के पीछे सेवा होती है, शुद्ध भावना होती है। हर काम यथार्थ होता है, पर तो भी हर काम की शक्ल परस्पर विरोधात्मक भी हो सकती है।

## ११

गांधीजी के उपवासों की काफ़ी समालोचना हुई है, और लोगों ने काफ़ी पुष्टि भी की है। पर साधारण वाद-विवाद से क्या निर्णय हो सकता है ? उपवास एक व्यक्ति के द्वारा किये जाने पर पापमय और केवल धरणा भी हो सकता है, और दूसरे के द्वारा वही चीज़ धर्म और कर्त्तव्य भी हो सकती है।

बात सारी-की-सारी मन्शा की है। उपवास यज्ञार्थ है क्या ? फलासक्ति त्यागकर किया जा रहा है क्या ? शुद्ध बुद्धि से किया जा रहा है क्या ? करनेवाला सात्विक पुरुष है क्या ? ईर्ष्या-द्वेष से रहित है क्या ? इन सब प्रश्नों के उत्तर पर उपवास धर्म है या पाप है, इसका निर्णय हो सकता है। पर निरी उपयोगिता की दृष्टि से भी हम उपवास-नीति के शुभ अशुभ पहलू सोच सकते हैं।

संसार को उलटे मार्ग से हटाकर सीधे मार्ग पर लाने के लिए ही महापुरुषों का जन्म होता है। भिन्न-भिन्न महापुरुषों ने अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिए भिन्न-भिन्न
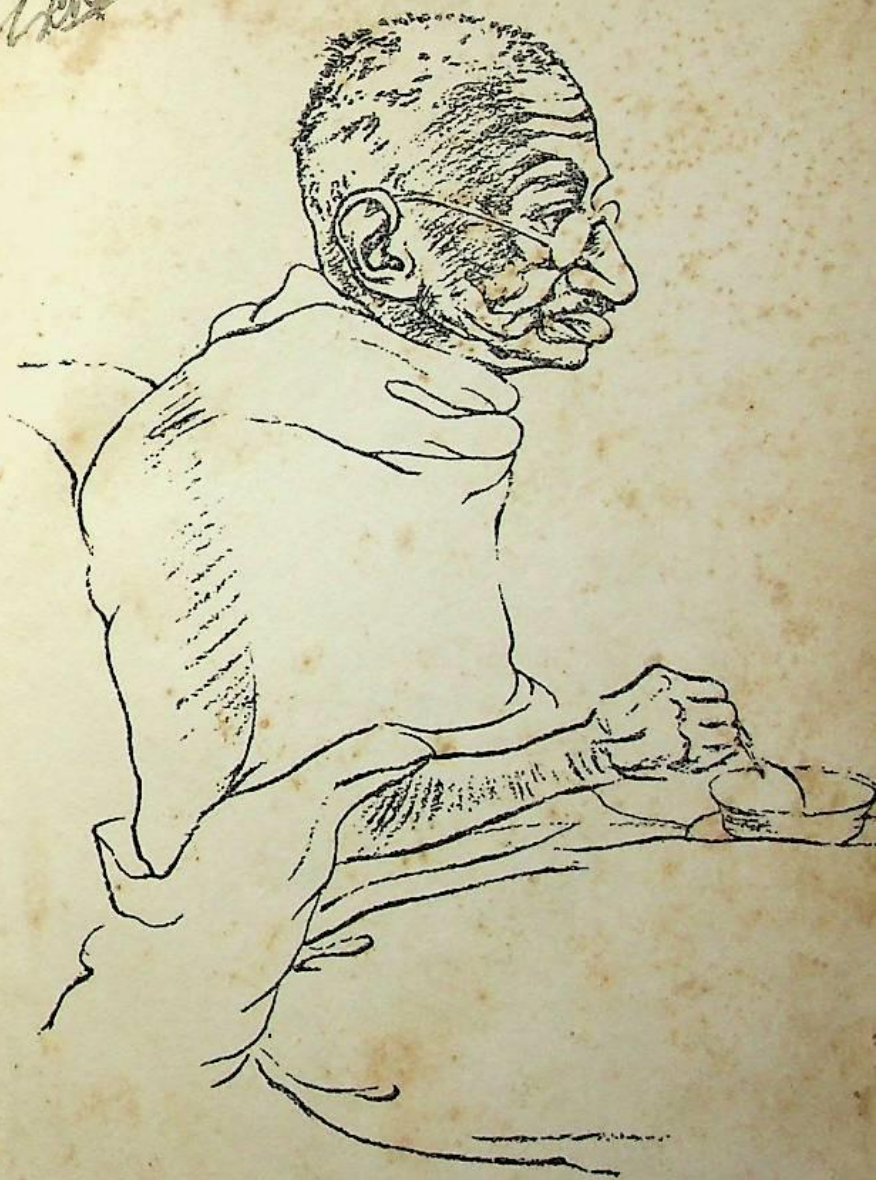
रेखा चित्र—
श्री भूरसिंह, पिलानी

मार्गों का अनुकरण किया। पर इन सब मार्गों के पीछे लक्ष्य तो एक ही था। नीति की स्थापना और अनीति का नाश—

**"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥"**

पर इस लक्ष्य-पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न महापुरुषों के साधनों की बाहरी शक्ल-सूरत में अवश्य ही भेद दिखाई देता है। प्रजा को सुशिक्षण देना, उसकी सोई हुई उत्तम भावनाओं को जाग्रत करना, इन सब उद्देशों की प्राप्ति महापुरुष अपने खुद के आचरणद्वारा और उपदेश-आदेशद्वारा करते हैं। **"ममवर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः"** यह श्रीकृष्ण ने कहा। गांधीजी कहते हैं, "जैसे शारीरिक व्यायामद्वारा शारीरिक गठन प्राप्त हो सकता है और बौद्धिक व्यायाम द्वारा बौद्धिक विकास, वैसे ही आत्मोन्नति के लिए आध्यात्मिक व्यायाम ज़रूरी है और आध्यात्मिक व्यायाम का आधार बहुत अंश में गुरु के जीवन और चरित्र पर निर्भर करता है। गुरु यदि शिष्यों से मीलों दूर भी हो, तो भी अपने चरित्र-बल से वह शिष्यों के चरित्रों को प्रभावान्वित कर सकता है। यदि मैं स्वयं झूठ बोलता हूँ, तो अपने लड़कों को सत्य की महिमा कैसे सिखा सकता हूँ ? एक कायर शिक्षक

अपने विद्यार्थियों को बहादुर नहीं बना सकता, न एक भोगी अध्यापक बालकों को आत्मनिग्रह सिखा सकता है। इसलिए मैंने यह देख लिया कि मुझे, कुछ नहीं तो अपने बालकों के लिए ही सही, सत्यवान्, शुद्ध और शुभकर्मी बनना चाहिए।'' इसलिए सभी महापुरुषों ने अपने चरित्र और उपदेशोंद्वारा ही धर्म का प्रचार किया है। धर्म की वृद्धि से अधर्म का स्वतः ही नाश होता है। पर कभी-कभी अधर्म पर सीधा प्रहार भी महापुरुषों ने किया है। और अनीति के नाश करने के साधनों का जब हम अवलोकन करते हैं, तो मालूम होता है कि महापुरुषों के इन साधनों के बाहरी स्वरूप में काफ़ी भेद रहा है।

श्रीकृष्ण ने भूमि का भार हल्का किया, अर्थात् संसार में पापों का बोझ कम किया, तब जिन साधनों का उपयोग किया, उनके बाहरी रूप में और बुद्ध के साधनों के बाहरी रूप में अवश्य भेद मिलता है। महाभारत का युद्ध, कंश का नाश, शिशुपाल और जरासंध इत्यादि दुष्ट राजाओं का श्रीकृष्ण के द्वारा वध होना आदि घटनाएँ हम ऐतिहासिक मान लें, तो यह कहना होगा कि श्रीकृष्ण का भूमि-भार हरने का तरीक़ा और बुद्ध का तरीक़ा बाहरी स्वरूप में भिन्न-भिन्न थे। पर हम कह सकते हैं कि मूल तो दोनों तरीक़ों का एक ही है। जिनका वध किया उनसे

श्रीकृष्ण को न द्वेष था, न ईर्ष्या थी, न उन्हें उनके प्रति क्रोध था—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥"

यह लक्ष्य था और जिस तरह एक विज्ञ जर्राह रोगी के सड़े अंग को रोगी की भलाई के लिए ही काटकर फेंक देता है, उसी तरह श्रीकृष्ण ने और श्रीरामचन्द्र ने समाज की रक्षा के लिए, और जिनका वध किया गया उनकी भी भलाई के लिए, दुष्टों का दमन किया। जिनका वध किया गया—जैसे रावण, कंस, जरासंध इत्यादि, उन्हें भी श्रीराम और श्रीकृष्ण ने सुगति ही दी, ऐसा हमारे पुराण बताते हैं।

महापुरुषों ने दुष्टों का वध किया, इसलिए हमें भी ऐसा ही करना चाहिए, ऐसी दलील तो हिंसा के पक्ष-पाती चटपट दे डालते हैं। पर यह भूल जाते हैं कि ये वध बिना क्रोध, बिना द्वेष, फलासक्ति से रहित होकर समाज की रक्षा के लिए किये गये थे, और जो मारे गये उन्हें भगवान् द्वारा सुमति मिली। इसलिए मूल में तो राम क्या, कृष्ण क्या, और बुद्ध क्या, सभी समान-तया अहिंसावादी थे। राम और कृष्ण के साधनों का बाहरी रूप हिंसात्मक दिखाई देते हुए भी उसे हिंसा नहीं

कह सकते; क्योंकि "न मां कर्माणि लिपंति न मे कर्म-फले स्पृहा" और फिर,

"योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥"

इन वचनों को यदि हम ध्यानपूर्वक सोचें, तो सहज ही समझ में आ जायेगा कि श्रीराम और श्रीकृष्ण हिंसा से उतने ही दूर थे जितने कि बुद्ध।

गांधीजी ने भी बछड़े की हत्या करके उसे अहिंसा बताया; क्योंकि मार देनामात्र ही हिंसा नहीं है—

"यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्त्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबध्यते।"

हिंसा अहिंसा का निर्णय करने के लिए हमें यह भी जानना ज़रूरी है कि मारनेवाले ने किस मानसिक स्थिति में किस भावना से वध किया है। वध करनेवाले की मानसिक स्थिति और भावना ही हमें इस निर्णय पर पहुँचा सकती है कि अमुक कर्म हिंसा है या अहिंसा। पर राग-द्वेष से रहित होकर अक्रोधपूर्वक, शुद्धभाव से लोक-कल्याण के लिए, किसीका वध करनेवाला क्या कोई साधारण पुरुष हो सकता है ? वह तो कोई असाधारण दैवी पुरुष ही हो सकता है। इसके माने यह भी हुए कि उत्तम उद्देश के लिए भी हिंसात्मक शस्त्र-ग्रहण साधारण

मनुष्य का धर्म नहीं बन सकता। राग, द्वेष, क्रोध और ईर्ष्या से जकड़े हुए हम न तो हिंसा-शस्त्र धर्मपूर्वक चला सकते हैं, न राग-द्वेष के कारण जिनकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो गई है, वे यही निर्णय कर सकते हैं कि वध के योग्य दुष्ट कौन हैं। राग-द्वेष से रहित हुए बिना हम यह भी तो सही निर्णय नहीं कर सकते कि दुष्ट हम हैं या हमारा विरोधी। यदि हम दुष्ट हैं और हमारा विरोधी सज्जन है, तो फिर लोक-कल्याण का बहाना लेकर हम यदि हिंसा-शस्त्र का उपयोग करते हैं, तो पाप ही करते हैं और आत्म-वंचना भी करते हैं। असल में तो अनासक्तिपूर्वक हिंसा-शस्त्र का उपयोग केवल उन उच्च महापुरुषों के लिए ही सुरक्षित समझना चाहिए, जिनमें कमल की तरह जल में रहते हुए भी अलिप्त रहने की शक्ति है। साधारण मनुष्यों का निर्दोष धर्म तो इसलिए केवल हिंसात्मक ही हो सकता है।

जो अहिंसक नहीं बन सका वह आत्म-रक्षा के लिए चाहे हिंसा का प्रयोग करे, पर वहाँ तुलना हिंसा और अहिंसा के बीच नहीं है। तुलना है कायरता और आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा के बीच। और कायरता अवश्य ही आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा से भी बुरी है। कायरता तमःप्रधान है। आत्म-रक्षा के लिए

की गई हिंसा रजोगुणी भी हो सकती है। पर आत्म-रक्षा के लिए की गई हिंसा भी शुद्ध धर्म नहीं, अपेक्षा-कृत धर्म ही है। शुद्ध धर्म तो अहिंसा ही है।

स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि डकैती के लिए एक डाकू हिंसा करता है, वह निकृष्ट पाप करता है। आत्म-रक्षा के लिए, देश या धर्म की रक्षा के लिए की गई हिंसा, यदि न्याय हमारे साथ है तो, उस डकैतद्वारा की गई हिंसा की तुलना में धर्म है। पर अच्छे हेतु के लिए अनासक्त होकर की गई हिंसा अहिंसा ही है और इसलिए शुद्ध धर्म है। उसी तरह कायरता लेकर धारण की गई अहिंसा, अहिंसा नहीं, पाप है। अशोक वीर था। उसने द्विग्विजय के बाद सोचा कि साम्राज्य-स्थापन के लिए की गई हिंसा पाप है। इसलिए उसने क्षमा-धर्म का अनुसरण किया। वह वीर की क्षमा थी; पर उसीका पौत्र अपनी कायरता ढाँकने के लिए अशोक की नक़ल करने लगा। उसमें न क्षमा थी, न शौर्य था। उसमें थी कायरता। इसलिए कवियों ने उसे मोहात्मा के नाम से पुकारा। बलिष्ठ की अहिंसा ही, जो विवेक के साथ है, शुद्ध अहिंसा है। वह एक सत्त्वगुणमयी वृत्ति है। कायर की अहिंसा और डाकू की हिंसा दोनों पाप हैं। अनासक्त की हिंसा और बलिष्ठद्वारा विवेक से की गई अहिंसा दोनों

ही धर्म हैं और अहिंसा हैं।

पर धर्म की गति तो सूक्ष्म है। और मनुष्य क्रोध के वश या लोभ के वश हिंसकवृत्ति पर आसानी से नहीं संयम कर पाता। इसलिए गांधीजी ने हिंसा को त्याज्य और अहिंसा को ग्राह्य माना। गांधीजी स्वयं जीवनमुक्त दशा में, चाहे वह दशा क्षणिक–जब निर्णय किया जा रहा हो उस घड़ी के लिए ही—क्यों न हो, अहिंसात्मक हिंसा भी कर सकें, जैसे कि बछड़े की हिंसा, पर साधारण मनुष्य के लिए तो वह कर्म कौए के लिए हंस की नक़ल होगी। इसलिए सबके लिए सरल, सुगम और स्वर्णमय मार्ग अहिंसा ही है, ऐसा गांधीजी ने मानकर अहिंसा-धर्म की वृद्धि की है। उपवास की प्रवृत्ति भी इसीमें से जन्मी।

हिंसा को पूर्णतया त्याज्य मानने के बाद भी ऐसे शस्त्र की ज़रूरत तो रह ही जाती है, जिससे अधर्म का नाश हो। धर्म को अत्यन्त प्रगति मिलने पर भी अधर्म का नाश होता है, पर अधर्म का नाश होने पर भी तो धर्म की प्रगति का आधार रहता है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। एक मनुष्य हमसे वादाख़िलाफ़ी करता है, जैसा कि राजकोट में हुआ था। या तो हमपर कोई ज़बरन एक ऐसी भयंकर चीज़ लादता है कि जो ज़बर्दस्त प्रतिवाद के बिना नहीं रोकी जा सकती—जैसाकि हरिजन साम्प्र-

दायिक निर्णय के सम्बन्ध में हुआ। तब अहिंसा-शस्त्रधारी ऐसी परिस्थिति में क्या करे ? हिंसा को तो उसने त्याज्य माना है। इसलिए उसे तो ऐसे ही शस्त्र का प्रयोग करना है, जो जनता की आत्मा को अधर्म के खिलाफ़ उत्तेजन दे, पर जनता का क्रोध न बढ़ाये, जनता में द्वेष पैदा न होने दे, जो बुराई को छेदन करने के लिए तो लोगों को उकसाये, पर साथ ही बुराई करनेवालों को भय से मुक्त भी करदे। हमारा एक निकटस्थ बुरी लत में फँसा है, उसको हम कैसे बुरे मार्ग से हटायें ? उसे व्याकुल तो करना है, पर हिंसा के शस्त्र से नहीं, प्रेम के द्वारा। ऐसी तमाम परिस्थितियों के लिए कई अहिंसात्मक उपायों का विधान हो सकता है। ऐसे विधानों में उपवास एक राम-वाण शस्त्र है, जिसका गांधीजी ने बार-बार प्रयोग किया।

उपवास में कोई बलात्कार नहीं होता, यह कौन कहता है ? पर बलात्कार होनेमात्र से ही तो हिंसा नहीं हो सकती। प्रेम का भी तो बलात्कार होता है। प्रेम के प्रभाव में हम कभी-कभी अनिच्छापूर्वक भी काम कर लेते हैं। पर प्रेम के वश अनिच्छा से हम यदि कोई पाप करते हैं तो उससे बुराई होती है। यदि, अनिच्छापूर्वक ही सही, हम पुण्य करते हैं, तो समाज को उसका अच्छा फल मिल ही जाता है। असल बात तो यह है कि हिंसक

नेता हमारी मानसिक निर्बलता का लाभ उठाकर अपने हिंसक शस्त्रों द्वारा हमें डराकर हमसे पाप कराता है। अहिंसक नेता हमारी धर्म-भीरुता को उकसाकर, उसे उभारकर हमें अपने प्रेम से प्रभावान्वित करके हमसे पुण्य कराता है। और इसका यह भी फल होता है कि पाप के नीचे हमारी दबी हुई अच्छी प्रवृत्तियाँ स्वतन्त्र बनती हैं। इस तरह पहले जो काम प्रेम के बलात्कार से किया, वही हम अब अपनी स्वतंत्र बुद्धि से करने लगते हैं। परतंत्रता को खोकर इस तरह हम स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेते हैं। आदर्श स्थिति तो अवश्य ही वह होगी कि अहिंसात्मक नेता को कोई बल-प्रयोग करना ही न पड़े, पर ऐसी स्थिति तो सतजुग की ही हो सकती है। महापुरुष के जन्म की पहली शर्त ही यह है कि समाज निर्बल है, अधर्म का ज़ोर है, जुल्मों के मारे समाज त्रस्त है, उसे धर्म की प्यास है, जिसे मिटाने के लिए महापुरुष जन्म लेता है। यदि धर्म हो, निर्बलता न हो, तो क्यों तो महापुरुष के आने की ज़रूरत हो और क्यों उपवास की आवश्यकता हो ? क्यों उपदेश और क्यों सुशिक्षण की ही ज़रूरत पड़े ?

पर इसके माने यह भी नहीं कि हर मनुष्य इस उपवास-रूपी अहिंसा-शस्त्र का उपयोग करने का पात्र है। अहिंसात्मक हिंसा, जिसका प्रयोग राम, कृष्ण इत्यादि ने

और गांधीजी ने बछड़े पर किया, उसके लिए तो असा-धारण पात्रता की ज़रूरत होती ही है, पर हिंसात्मक शस्त्र के लिए भी तालीम की ज़रूरत पड़ती है। तलवार, गदका, पटा निशानेबाज़ी की कला सीखने की फ़ौजी सिपाहियों को ज़रूरत होती है। और उस तालीम के बाद ही वे अपने शस्त्रों का निपुणता से प्रयोग कर सकते हैं। इसी तरह उपवास के लिए भी, यदि अहिंसामय उपवास आचरना है तो, पात्रता की आवश्यकता है। सभी लोग अहिंसात्मक उपवास नहीं कर सकते। 'धरणा' देना एक चीज़ है, धार्मिक उपवास दूसरी चीज़। पर 'धरणा' में धर्म कहाँ, और अहिंसा कहाँ ? 'धरणा' ज्यादातर तो निजी स्वार्थ के लिए होता है। पर कुछ उपवास पाखण्ड और विज्ञापनबाज़ी के लिए भी लोग करते हैं। ऐसे उपवासों से कोई विशेष बलात्कार न भी हो, तो भी उनको हम अधार्मिक उपवासों की श्रेणी में ही गिन सकते हैं। इसकी चर्चा का यह स्थान नहीं है। हम तो धार्मिक उपवास की ही चर्चा कर रहे हैं। यह समझना ज़रूरी है कि धार्मिक उपवास का जो प्रयोग करना चाहता है उसे पहले पात्रता सम्पादन करनी चाहिए। वह इसलिए कि हर धार्मिक उपवास में बला-त्कार की सम्भावना रहती है। अधार्मिक उपवास में

बलात्कार हो भी, तो लोग उसकी अवहेलना कर जाते हैं और अवहेलना करना भी चाहिए, क्योंकि उसमें बल-प्रयोग के पीछे कोई नीति या धर्म नहीं होता। इसलिए ऐसे उपवास करनेवालों के सामने झुकना भी अधर्म है। पर धार्मिक उपवास में, चूँकि सफल बल-प्रयोग की संभावना है, उपवास करनेवाले को ज्यादा सावधानी और ज्यादा पात्रता की आवश्यकता होती है।

इसीलिए राजकोट के उपवास के बाद गांधीजी ने लिखा, "सत्याग्रह के शस्त्रागार में उपवास एक बलिष्ठ शस्त्र है। पर इसके लिए सभी पात्र नहीं होते। जिसकी ईश्वर में सजीव श्रद्धा न हो, वह सत्याग्रही उपवास का अधिकारी नहीं हो सकता। यह कोई नक़ल करने की चीज़ नहीं है। अत्यन्त अन्तर्वेदना हो, तभी उपवास करना चाहिए। और इसकी आवश्यकता भी असाधारण मौक़ों पर ही होती है। ऐसा लगता है मानों मैं उपवास के लिए अधिक उपयुक्त बन गया हूँ। हालांकि उपवास एक शक्तिशाली शस्त्र है, इसकी मर्यादाएँ अत्यन्त कठोर हैं। इसलिए जिन्होंने इसका शिक्षण नहीं पाया उनके लिए उपवास कोई मूल्यवान चीज़ नहीं है। और जब मैं अपने माप-दंड से उपवासों को मापता हूँ, तो मुझे लगता है कि अधिकतर उपवास जो लोग करते हैं, वे

सत्याग्रह की श्रेणी में आ ही नहीं सकते । वे तो महज़ 'धरणा' या भूख-हड़ताल के नाम से ही पुकारे जाने चाहिएँ ।"

"अन्दरूनी आवाज़" सुनने की तथा उपवासों की नक़ल कई लोगों ने अपने स्वार्थ के लिए की है । कुछ लोग पाखण्ड भी करते हैं । पर कौन-सी अच्छी वस्तु का दुरुपयोग नहीं हुआ ? किसी चीज़ का दुरुपयोग होता है केवल इसीलिए वह चीज़ बुरी नहीं बन जाती । असल बात तो यह है कि हर चीज़ में विवेक की ज़रूरत है । इसलिए गांधीजी ने यद्यपि आकाशवाणी भी सुनी और कई उपवास भी किये, तो भी प्राय: अपने लेखों में इन दोनों चीज़ों के सम्बन्ध में वह सावधानी से काम लेने की लोगों को सलाह देते हैं । मैंने देखा है कि वह प्राय: "अन्तर्नाद" की बात करनेवाले को शक की निगाह से देखते हैं और उपवास करनेवालों को प्राय: बिना अपवाद के निवारण करते हैं । और यह सही भी है ।

# १२

गांधीजी का ध्यान करते ही हमारे सामने सत्याग्रह का चित्र उपस्थित होता है। जैसे दूध के बिना हम गाय की कल्पना नहीं कर सकते, वैसे ही सत्याग्रह के बिना गांधीजी की कल्पना नहीं होती। गांधीजी तो सत्याग्रह का अर्थ अत्यन्त व्यापक करते हैं। वह इसकी व्याख्या सविनय क़ानून-भंगतक ही सीमित नहीं करते। सविनय क़ानून-भंग सत्याग्रह का एक अंग-मात्र है, पर हरिजन-कार्य भी उनकी दृष्टि से उतना ही सत्याग्रह है जितना कि सविनय क़ानून-भंग। चर्खा चलाना भी सत्याग्रह है। सत्य, ब्रह्मचर्य ये सारे सत्याग्रह के अंग हैं।

सत्याग्रह, अर्थात् सत्य का आग्रह। इसी चित्र को सामने रखकर सत्याग्रह-आश्रम के वासियों को सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अपरिग्रह, अभयत्व, अस्पृश्यता-निवारण, कायिक परिश्रम, सर्व-धर्म-समभाव, नम्रता, स्वदेशी, इन एकादश व्रतों का पालन करना पड़ता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि ये एकादश व्रत ही

सत्याग्रह के अंग हैं। सविनय क़ानून-भंग—नम्रता, सत्य, अहिंसा और अभयत्व के अन्तर्गत प्रकारान्तर से आ जाता है। इसे कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं है। फिर भी साधारण जनता तो यही समझती है कि सत्याग्रह के माने ही हैं सविनय क़ानून-भंग। "सविनय" का महत्त्व भी कम ही लोग महसूस करते हैं। सत्याग्रह का अर्थ है क़ानून-भंग, साधारण जनता तो इतना ही जानती है। आश्चर्य है कि इन चालीस सालों के निरन्तर प्रयत्न के बाद भी यह ग़लतफ़हमी चली ही जा रही है। आमतौर से सभी तरह के अवैध विरोध का नाम आजकल सत्याग्रह पड़ गया है। जो लोग क़ानून-भंग में शुद्ध सत्याग्रह का आचरण नहीं करते, वे क़ानून-भंग को सत्याग्रह का नाम न देकर यदि महज़ "निःशस्त्र प्रतिकार" कहें, तो सत्याग्रह की ज्यादा सेवा हो।

गांधीजी में यह शुद्ध सत्याग्रह बचपन से रहा है, पर सविनय आज्ञा-भंग का स्थूल दर्शन सर्वप्रथम अफ्रीका में होता है। अफ्रीका पहुँचते ही इन्हें प्रिटोरिया जाना था, इसलिए डरबन से प्रिटोरिया के लिए रवाना हुए। फ़र्स्ट क्लास का टिकट लेकर गाड़ी में आराम से जाकर बैठ गये। रात को नौ बजे एक दूसरा गोरा मुसाफ़िर उसी डिब्बे में आया। गांधीजी को उसने एड़ी से चोटीतक

देखा और फिर बाहर जाकर एक रेल्वे अफ़सर को लेकर वापस लौटा। अफ़सर ने आते ही कहा :

"उठो, तुम यहाँ नहीं बैठ सकते, तुम्हें दूसरे नीचे दर्जे के डिब्बे में जाना होगा।"

"पर मेरे पास तो फ़र्स्ट का टिकट है।"

"रहने दो बहस को, उठो, चलो दूसरे डिब्बे में।"

"मैं साफ़ कहे देता हूँ कि मैं इस डिब्बे से ऐसे नहीं निकलनेवाला हूँ। मेरे पास टिकट है और अपनी यात्रा इसी डिब्बे में समाप्त करना चाहता हूँ।"

"तुम सीधी तरह नहीं मानोगे। मैं पुलिस को बुलाता हूँ।"

पुलिस कॉन्सटेब्ल आया। उसने गांधीजी को हाथ पकड़कर बाहर निकाल दिया और इनका सामान भी बाहर पटक दिया। इन्होंने दूसरे डिब्बे में जाना स्वीकार नहीं किया और गाड़ी इन्हें बिना लिये ही छूट गई। यह मुसाफ़िरखाने में चुपचाप जा बैठे। सामान भी रेलवेवालों के पास ही रहा। रात को भयंकर जाड़ा पड़ता था, उसके मारे यह ठिठुरे जाते थे। "मैं अपने कर्त्तव्य का विचार करने लगा। क्या मुझे अपने हक़-हकूकों के लिए लड़ना चाहिए? या अपमान को सहन करके भी प्रिटोरिया जाना चाहिए और मुक़दमा समाप्त होने पर ही वहाँ से लौटना

चाहिए ? अपना कर्त्तव्य पूरा किये बिना भारत लौटना मेरी नामर्दी होगी। यह काले-गोरे के भेद-भाव का रोग तो गहरा था। मेरा अपमान तो रोग का एक लक्षण-मात्र था। मुझे तो रोग को जड़-मूल से खोदकर नष्ट करना चाहिए और उस प्रयत्न में जो भी कष्ट आये उसे सहन करना चाहिए। यह निश्चय करके मैं दूसरी गाड़ी से प्रिटोरिया के लिए रवाना हुआ।''

डरबन से प्रिटोरिया पहुँचने के लिए रेल से चार्ल्स-टाउन पहुँचना था। वहाँ से घोड़ागाड़ी की डाक थी, उसमें सफ़र करना और जोहॅन्सबर्ग पहुँचकर वहाँ से फिर रेल पकड़कर प्रिटोरिया पहुँचना था। गांधीजी दूसरी गाड़ी पकड़कर चार्ल्सटाउन पहुँचे। पर अब यहाँ से फिर घोड़ा-गाड़ी की डाक में यात्रा करनी थी। रेल के टिकट के साथ ही उन्होंने घोड़ागाड़ी का टिकट भी ख़रीद लिया था। घोड़ागाड़ी के एजेण्ट ने जब देखा कि यह तो साँवला आदमी है, तो इनसे कहा कि तुम्हारा टिकट तो रद्द हो चुका है। पर गांधीजी ने जब उसे उपयुक्त उत्तर दिया तो वह चुप हो गया, पर मूल में जो कठिनाई काले-गोरे की थी वह कैसे दूर हो सकती थी ? गोरे यात्री तो सब गाड़ी के भीतर बैठे थे। इन्हें गोरों के साथ तो बिठाया नहीं जा सकता था, इसलिए बग्घी का संचालक, जो
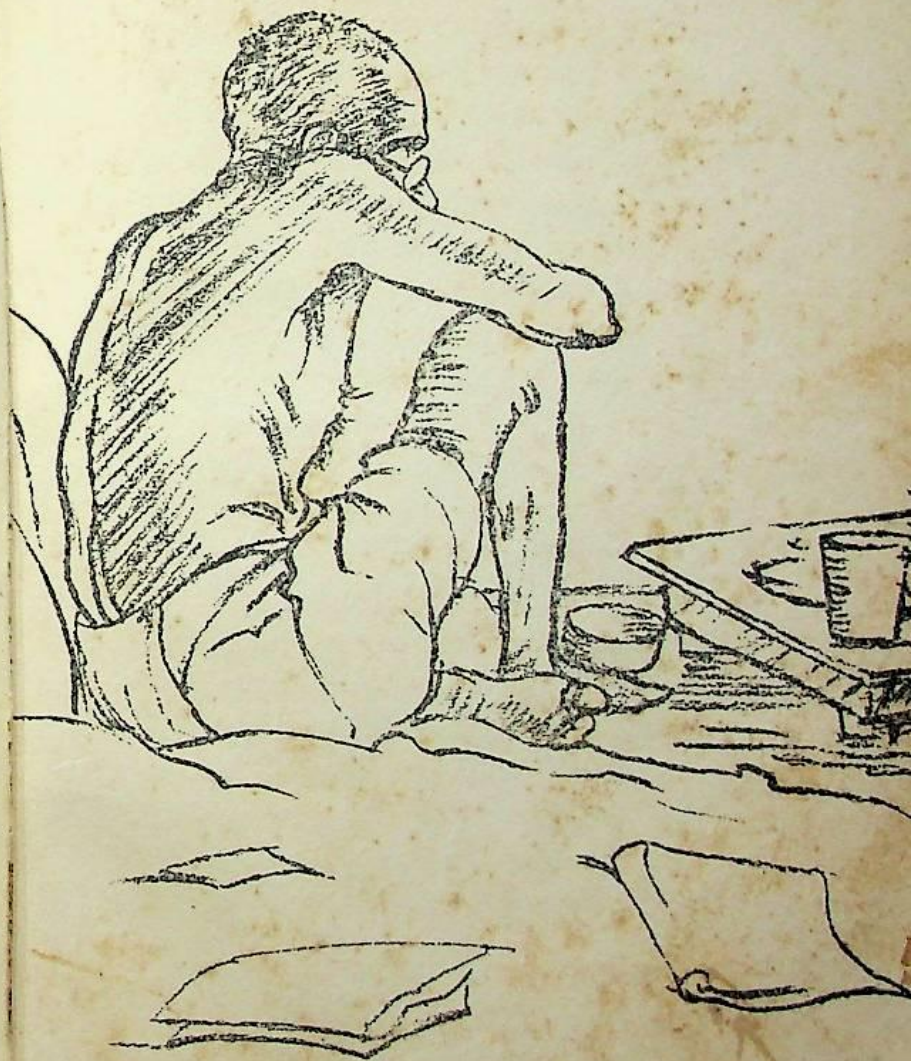
रेखा चित्र—
श्री भूरसिंह, पिलानी

कोचमैन की बग़ल में बैठा करता था, वह तो स्वयं भीतर बैठ गया और इन्हें कोचमैन की बग़ल में बिठाया।

यह अपमान था, पर इसे गांधीजी ज़हर की घूँट करके पी गये। गाड़ी चलती रही। कुछ घंटे बीत गये। अब गाड़ी के संचालक को तम्बाकू पीने की इच्छा हुई, इसलिए उसने बाहर बैठने की ठानी। उसकी जगह तो गांधीजी बैठे थे और गांधीजी को भीतर बैठाया जा नहीं सकता था। इस समस्या को भी उसने गांधीजी का और अपमान करके ही हल करना निश्चय किया। कोचमैन की दूसरी तरफ़ एक गन्दी-सी जगह बची थी, उसकी तरफ़ लक्ष्य करके गांधीजी से कहा, "अब तू यहाँ बैठ, मुझे तम्बाकू पीना है।" यह अपमान असह्य था। गांधीजी ने कहा, "मेरा हक़ तो भीतर बैठने का था। तुम्हारे कहने से मैं यहाँ बैठा। अब तुम्हें तम्बाकू पीना है, इसलिए मेरी जगह भी तुम्हें चाहिए! मैं भीतर तो बैठ सकता हूँ, पर और दूसरी जगह के लिए मैं अपना स्थान खाली नहीं कर सकता।" बस, इतना कहना था कि तपाक से उसने गांधीजी को तमाचा मारा। इनका हाथ पकड़कर इन्हें नीचे गिराने की कोशिश करने लगा। पर यह भी गाड़ी की डण्डी से चिपटकर अपने स्थान पर जमे रहे।

दूसरे यात्री यह तमाशा चुपचाप देखते थे। गाड़ी

का संचालक इन्हें पीट रहा था, गालियाँ दे रहा था, खींच रहा था और यह गाड़ी से चिपके हुए थे, पर शांत थे। वह बलिष्ठ था, यह दुर्बल थे। यात्रियों को दया आई। एक ने कहा, "भाई, जाने भी दो, क्यों ग़रीब को मारते हो ?" उसका क्रोध शांत तो नहीं हुआ, पर कुछ शर्मा गया। इन्हें जहाँ-का-तहाँ बैठने दिया। गाड़ी अपने मुक़ाम पर पहुँची। वहाँ से फिर रेल पकड़ी, पर फिर वही मुसीबत। गार्ड ने पहले इनसे टिकट माँगा, फिर बोला, "उठो, थर्ड में जाओ।" फिर झंझट शुरू हुई, पर एक अंग्रेज यात्री ने बीच में पड़कर मामला शान्त किया और यह सही-सलामत प्रिटोरिया पहुँचे।

सविनय आज्ञा-भंग का गांधीजी के लिए यह पहला पाठ था। उनकी इस वृत्ति का प्रथम दर्शन शायद यहीं से होता है। ऐसे मौक़े पर ऐसा करना चाहिए, यह शायद उन्होंने निश्चय नहीं कर रक्खा था। पर ऐन मौक़े पर अचानक विवेक-बुद्धि आज्ञा-भंग करने के लिए उभारती है और यह सविनय आज्ञा-भंग करते हैं। मार खाते हैं, पर मारनेवाले पर कोई क्रोध नहीं है। न इन्हें उसपर मुक़दमा चलाने की रुचि होती है। इस तरह पहले पाठ का प्रयोग सफलतापूर्वक समाप्त होता है।

यह जो छोटी-सी चीज़ जाग्रत हुई, वह फिर बृहत्

आकार धारण कर लेती है। पर यह कोरा आज्ञा-भंग नहीं है। "सविनय" है, जो कि सत्याग्रह की एक प्रधान शर्त है। सत्याग्रह उनके लिए कोई राजनैतिक शस्त्र नहीं है। आदि से अन्ततक उनके लिए यह धार्मिक शस्त्र है, जिसका उपयोग वह राजनीति में, घर में, हर समय, हर हालत में करते हैं।

बां को एक मर्तबा बीमारी होती है। चिकित्सा से लाभ न हुआ, तो गांधीजी ने अपनी जल-चिकित्सा और प्राकृतिक चिकित्सा का उपयोग शुरू किया। इन्हें लगा कि बा को नमक और दाल का त्याग करना चाहिए, पर बा को यह राय पसन्द न आई। एक रोज़ बहस करते-करते बा ने कहा, "यदि आपको भी दाल और नमक छोड़ने को कहा जाये, तो न छोड़ सकेंगे।" "तुम्हारी यह भूल है। यदि मैं बीमार पड़ूँ और मुझे डॉक्टर इन चीज़ों को छोड़ने के लिए कहे तो मैं अवश्य छोड़ दूँ। पर लो, मैं तो एक साल के लिए दाल और नमक दोनों छोड़ देता हूँ, तुम छोड़ो या न छोड़ो।" बा बेचारी घबड़ा गई, फ़िजूल को आफ़त मोल ली। "मैं दाल और नमक छोड़ती हूँ, पर आप न छोड़ें।" पर गांधीजी ने तो बातों-ही-बातों में प्रतिज्ञा ले ली थी। अब उससे टलनेवाले थोड़े ही थे। बा ने भी सन्तोष किया। इस

घटना का ज़िक्र करते हुए गांधीजी कहते हैं, "मैं मानता हूँ कि मेरा यह सत्याग्रह मेरे जीवन की स्मृतियों में सब से ज्यादा सुखद है।"

ये दो घटनाएँ गांधीजी की शुद्ध सत्याग्रह की नीति की रूप-रेखा हमारे सामने रखती हैं। यद्यपि एक घटना एक अनजान के साथ घटती है, जो इनके प्रति क्रुद्ध था और दूसरी घटती है एक निकटस्थ के साथ, जो हठ के कारण अपने प्रिय भोजन को स्वास्थ्य की अपेक्षा ज्यादा महत्त्व देती थी, पर दोनों में भावना एक ही काम करती है। दोनों में हृदय-परिवर्तन की इच्छा है। दोनों में स्वेच्छापूर्वक कष्ट-सहन करने की नीति है। दोनों में क्रोध या आवेश का अभाव है। इन दो घटनाओं का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने के बाद हम देख सकेंगे कि इनके बाद के बड़े-से-बड़े राजनैतिक संग्रामों में वही भावना, वही प्रवृत्ति रही है, जो इन दो घटनाओं में हमें मिलती है—अक्रोध से क्रोध को जीतना, दूसरों की उत्तम भावना को स्वयं कष्ट सहकर जाग्रत करना। सत्याग्रह के शस्त्र का इन्होंने जीवन की हर क्रिया में उपयोग किया है। पर इस शस्त्र को अधिक ख्याति राजनीति में मिली है, इसलिए राजनीति के कुछ कार्यों का सिंहावलोकन, सत्याग्रह की नीति को ठीक-ठीक

समझने में हमारे लिए ज्यादा सहायक हो सकता है।

गांधीजी ने सरकार के साथ कई लड़ाइयाँ लड़ीं और कई मर्तबा सरकार के संसर्ग में आये—इन सभी लड़ाइयों में या संसर्गों में सत्याग्रह की झलक मिलती है—पर मेरा ख़याल है कि १९१४-१८ का यूरोपीय महाभारत, और उसी ज़माने में किया गया चम्पारन-सत्याग्रह और वर्तमान यूरोपीय महाभारत, ये तीन प्रकरण इनके स्वदेश लौटने के बाद ऐसे हुए हैं कि जिनमें हमें शुद्ध सत्याग्रह का दिग्दर्शन होता है। अफ्रीका का सत्याग्रह-संचालन तो इनके अखण्ड आधिपत्य में हुआ था। इसलिए उस सत्याग्रह में शुद्ध सत्याग्रह की नीति का ही अनुसरण हुआ। पर १९२०-२२ और १९३०-३२ की लड़ाइयाँ विस्तृत थीं, और अधिनायकी इनकी होते हुए भी अनेकोंतक यह सत्याग्रह फैल गया था। उसका नतीजा यह हुआ कि सत्याग्रह सर्वांश में सत्याग्रह न रहा। इन लड़ाइयों में सत्याग्रह के साथ-साथ दुराग्रह भी चला।

यह सही है कि लोग शरीर से कोई हिंसा नहीं करते थे। पर ज़बान और दिल में ज़हर की कमी न थी।

इटली और तुर्की के बीच कई साल पहले जब युद्ध छिड़ा तब अकबर साहब ने लिखा :

न सीने में जोर है न बाजू में बल
कि टरकी के दुश्मन से जाकर लड़ें;
तहेदिल से हम कोसते हैं मगर
कि इटली की तोपों में कीड़े पड़ें।

ऐसे सैकड़ों सत्याग्रही थे, जिनके बारे में थोड़े-से हेरफेर के साथ यह शेर कहा जा सकता था। **"इंग्लैण्ड के फेफड़ों में कीड़े पड़ें"** ऐसी मिन्नत मनानेवालों की भी क्या कमी थी! पर पिछले यूरोपीय महाभारत और वर्तमान यूरोपीय युद्ध में ( युद्ध तो जारी ही है ) इनकी जो नीति रही वह शुद्ध गांधीवाद का प्रदर्शन हुआ है।

## १३

पिछला यूरोपीय युद्ध और वर्तमान यूरोपीय युद्ध ये ऐसी बड़ी घटनाएँ हैं, जिन्होंने संसार के हर पहलू को प्रभावान्वित किया है और भविष्य में करेंगी। असल में तो वर्तमान युद्ध के जन्म के पीछे छिपा हुआ कारण तो पिछला युद्ध ही है और ये दोनों युद्ध संसार की बृहत् बीमारी के चिह्नमात्र हैं। बीमारी तो कुछ दूसरी ही है। मालूम होता है कि जैसे पृथ्वी के गर्भ में तूफान उठता है, उसे हम देख नहीं पाते और भूकम्प होने पर ही हमें उसकी ख़बर होती है, वैसे ही मानव-समाज में भी जो आग भीतर-ही-भीतर वर्षों से दहक रही थी, उसे हमने युद्ध होने पर ही सम्यक् प्रकार से देखा है। पिछला युद्ध एक तरह का भूकम्प था। प्रेसिडेण्ट विलसन ने इस भूकम्प का निदान किया। बरतानिया के प्रधानमन्त्री लॉयड जॉर्ज को भी स्थिति स्पष्ट दिखाई दी। पर दोनों की मानसिक निर्बलता ने इन्हें लाचार बना दिया। विजय के मद में ये लोग रोग को भूल गये। रोग की चिकित्सा

न करके लक्षणों को दबाने की कोशिश की गई। नतीजा यह हुआ कि एक ज़बर्दस्त विस्फोटक मानव-समाज के अंग में फूट निकला है, जिसके दर्द के मारे सारी सृष्टि व्याकुलता से कराह रही है।

इन दोनों महाभारतों में गांधीजी ने क्या किया, यह एक अध्ययन करनेलायक़ चीज़ है। गांधीजी की राजनीति में धर्मनीति प्रधान होती है। यूरोपीय महाभारतों से बढ़कर दूसरा राजनीति का प्रकरण इस सदी में और कोई नहीं हुआ। इन दोनों राजनैतिक प्रकरणों में गांधीजी ने राजनीति और धर्म का कैसे समन्वय किया, यह एक समालोच्य विषय हो सकता है। पर हर हालत में वह गांधीजीके व्यक्तित्व पर एक तेज़ प्रकाश डालता है। गांधीजी की प्रथम यूरोपीय युद्ध के बाद की नीति में इतना फ़र्क़ अवश्य पड़ा है कि इंग्लैण्ड के राज्य-शासन में जो इनका अटूट विश्वास था वह मिट गया। पर उसके मिटने से पहले इन्हें कई आघात लगे, जिन्होंने उस विश्वास की सारी बुनियाद को तहस-नहस कर दिया।

"ब्रिटिश राज्य-शासन में मेरी जितनी श्रद्धा थी उससे बढ़कर किसीकी हो ही नहीं सकती थी। मैं अब सोचता हूँ, तो मुझे लगता है कि इस राज-भक्ति की जड़ में तो मेरी सत्यप्रियता ही थी। मैं ब्रिटिश शासन के

दुर्गुणों से अनभिज्ञ न था, पर मुझे उस समय ऐसा लगता था कि गुण-अवगुणों के जमा-खर्च के बाद ब्रिटिश शासन का जमा-पक्ष ही प्रबल रहता था। अफ्रीका में मैंने जो रंगभेद पाया, वह मुझे ब्रिटिश स्वभाव के लिए अस्वाभाविक चीज़ लगती थी। मैंने माना था कि वह स्थानीय थी और अस्थायी थी, इसलिए राज-कुटुम्ब के प्रति आदर-प्रदर्शन करने में मैं हर अँग्रेज़ से बाज़ी मारता था। पर मैंने इस राजभक्ति से कभी स्वार्थ नहीं साधा। मैंने तो ऐसा माना कि राजभक्तिद्वारा मैं एक ऋणमात्र अदा कर रहा हूँ।"

ये इनके प्राचीन भाव थे। फिर जब इन्होंने सरकार के लिए "शैतानी" शब्द की रचना की, तबतक विचारों में परिवर्तन हो चुका था। पर सरकार 'शैतानी' हो गई तो भी कार्यपद्धति में कोई परिवर्तन न हुआ, क्योंकि इन्हें शैतान से भी तो दुश्मनी नहीं है। एक बार मैंने कहा, "अमुक मनुष्य बड़ा दुष्ट है। आप क्यों उसे अपने पास रखते हैं?" गांधीजी ने उत्तर में कहा, "मैं तो चाहता हूँ कि शैतान भी मेरे पास बैठे, पर वह मेरे पास रहना पसन्द ही नहीं करता।" इसलिए राजभक्ति तो काफ़ूर हुई, पर सल्तनत के हृदय-परिवर्तन की चाह न मिटी। जिस स्वराज्य की प्राप्ति "ऋण अदा करके"

होनेवाली थी उसकी प्राप्ति अब "हृदय-परिवर्तन" द्वारा होने की चाह जगी। पर स्वयं कष्ट-सहन करने की नीति और अन्य तत्सम चीज़ें ज्यों-की-त्यों हैं।

४ अगस्त १९१४ को लड़ाई का इश्तिहार हुआ। ६ अगस्त को गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका से इंग्लैण्ड में पदार्पण किया। लन्दन पहुँचते ही पहला ध्यान इनका अपने कर्त्तव्य की ओर गया। कुछ भारतीय मित्र उस समय इंग्लैण्ड में थे। उनकी एक छोटी-सी सभा बुलाई और उनके सामने कर्त्तव्य-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये। इन्हें लगा कि जो हिन्दुस्तानी भाई इंग्लैण्ड में रहते थे, उन्हें सहायता देकर अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए। अंग्रेज़ विद्यार्थी फ़ौज में भर्ती हो रहे थे। भारतीय विद्यार्थियों को भी ऐसा ही करना चाहिए, यह इनकी राय थी। "पर दोनों की स्थितियों में क्या तुलना है? अंग्रेज मालिक हैं, हम गुलाम हैं। गुलाम क्यों सहयोग दें? जो गुलाम स्वतंत्र होना चाहता है उनके लिए तो स्वामी का संकट ही अवसर है।" पर यह दलील उस समय गांधीजी को नहीं हिला सकी। आज भी ऐसी दलील का उनपर कोई असर नहीं होता।

"मुझे अंग्रेज़ और हिन्दुस्तानी दोनों की हैसियत के भेद का सम्पूर्ण ज्ञान था, पर मैंने यह नहीं माना था

कि हम गुलामों की हैसियत में पहुँच गये थे। मुझे लगता था कि यह सारा दोष ब्रिटिश शासन का नहीं, पर व्यक्तिगत अफ़सरों का था और मेरा विश्वास था कि यह परिवर्तन प्रेम से ही संपादन किया जा सकता था। यदि हमें अपनी अवस्था का सुधार वांछनीय था, तो हमारा फ़र्ज़ था कि हम अंग्रेज़ों की उनके संकट में मदद करें और उनका हृदय पलटायें।"

पर विरोधी मित्रों की ब्रिटिश सल्तनत में वह श्रद्धा नहीं थी जो गांधीजी की थी, इसलिए वह सहयोग देने को उत्सुक नहीं थे। आज वह श्रद्धा गांधीजी की भी नहीं रही, इसलिए गांधीजी के सहयोग का अभाव है। पर "अंग्रेज़ों का संकट हमारा अवसर है," इस दलील को आज भी गांधीजी स्वीकार नहीं करते। मित्रों ने उस समय कहा, "इस समय हमें अपनी माँगें पेश करनी चाहिए।" पर गांधीजी ने कहा "यह ज्यादा सुन्दर होगा और दूरदर्शिता भी होगी कि हम अपनी माँगें लड़ाई के बाद पेश करें।" अबकी बार माँगें पेश की गई हैं, पर तो भी अंग्रेज़ों के संकट की चिन्ता से गांधीजी मुक्त नहीं हैं। वह उनके लिए किसी तरह की परेशानी पैदा करना नहीं चाहते। प्रथम और द्वितीय यूरोपीय युद्धों के प्रति इनकी मनोवृत्ति में जो सूक्ष्म सादृश्य बराबर नज़र

आता है, वह अध्ययन करनेलायक़ है।

अन्त में लन्दन में वालंटियरों की एक टुकड़ी खड़ी की गई। उस समय के भारत-मंत्री लॉर्ड क्रू थे। उन्होंने बड़ी अगर-मगर के बाद उस टुकड़ी की सेवा स्वीकार करने की सम्मति दी। अंग्रेज़ों में तब भी हमारे प्रति अविश्वास था, जो आजतक ज्यों-का-त्यों बना पड़ा है।

गांधीजी के साथियों ने जब दक्षिण अफ्रीका में सुना कि गांधीजी ने स्वयंसेवकों की एक टुकड़ी लड़ाई में सहायता देने के लिए खड़ी की है, तब उन्हें अत्यन्त आश्चर्य हुआ। एक ओर अहिंसा की उपासना, और दूसरी ओर लड़ाई में शरीक होना ! गांधीजी की इन दो परस्पर-विरुद्ध मनोवृत्तियों ने इनके साथियों को उलझन में डाल दिया।

युद्ध की नैतिकता में इन्हें क़तई विश्वास न था। "यदि हम अपने घातक के प्रति भी क्षमा का पालन करते हैं, तो फिर ऐसे युद्ध में जिसमें हमें यह पूरा पता भी न हो कि धर्म किसकी ओर है, कैसे किसीका पक्ष लेकर लड़ सकते हैं ?"

पर इसका उत्तर गांधीजी यों देते हैं :

"मुझे यह अच्छी तरह ज्ञात था कि युद्ध और अहिंसा का कभी मेल नहीं हो सकता। पर धर्म क्या है

और अधर्म क्या है, इसका निर्णय इतना सरल नहीं होता। सत्य के उपासक को कभी-कभी अन्धकार में भी भटकना पड़ता है। अहिंसा एक विशाल धर्म है। **"जीवो जीवस्य जीवनम्"** इस वाक्य का अत्यन्त गूढ़ अर्थ है। मनुष्य एक क्षण भी जाने-अनजाने हिंसा किये बिना जीवित नहीं रहता। ज़िन्दा रहने की क्रियामात्र—खाना, पीना, डोलना—जीव का हनन करती है, चाहे वह जीव अणु-जितना ही छोटा क्यों न हो। इसलिए जीवन स्वयं ही हिंसा है। अहिंसा का पूजक ऐसी हालत में अपने धर्म का यथार्थ पालन उसी दशा में कर सकता है, जबकि उसके तमाम कर्मों का एक ही स्रोत हो। वह स्रोत है दया। अहिंसावादी भरसक जीवों की रक्षा करने की कोशिश करता है। और इस तरह वह हिंसा के पापमय फन्दे से बचता रहता है। उसका कर्त्तव्य होता है कि वह इन्द्रिय-निग्रह और दया-धर्म की वृद्धि करता रहे। पर मनुष्य हिंसा से पूर्णतः मुक्त कभी हो ही नहीं सकता। आत्मा एक है और सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए एक मनुष्य की बुराई का असर प्रकारांतर से सभीपर होता है। इस न्याय से भी मनुष्य हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि जबतक समाज का वह एक अंग है, तबतक समाज की हस्ती के लिए भी जो हिंसा

होती है उसका वह भागीदार तो है ही। जब दो राष्ट्रों में युद्ध होता है तब अहिंसा के उपासक का प्रथम धर्म तो है युद्ध को बंद कराना। पर जो इसके लिए अयोग्य है, जो युद्ध रोकने की शक्ति भी नहीं रखता, वह चाहे युद्ध में शरीक तो हो, पर साथ ही राष्ट्र को, संसार को और अपने-आपको युद्ध से मुक्त करने का प्रयत्न भी निरन्तर करता रहे।"

गांधीजी के तबके और आज के विचारों में कोई फ़र्क़ नहीं है, चाहे कार्यक्रम की बाहरी सूरत कुछ भिन्न मालूम देती हो। "अहिंसा का पूजक अपने धर्म का पालन पूर्णतया तभी कर सकता है, जब कि उसके कर्ममात्र का स्रोत केवल दया ही हो।" यह वाक्य उनके तमाम निर्णयों के लिए नाव के पतवार का-सा काम देता है। पर उस युद्ध में शरीक होने में एक और दलील थी:—

"मैं अपने स्वदेश की स्थिति ब्रिटिश सल्तनत की सहायता से सुधारने की आशा करता था। मैं इंग्लैण्ड में ब्रिटिश नाविक सैन्य की सहायता से सुरक्षित था। चूँकि मैं इंग्लैण्ड की छत्रछाया में सुरक्षित था, एक प्रकार से मैं इंग्लैण्ड की हिंसा में भी शरीक था। मैं इंग्लैण्ड से अपना नाता तोड़ने को यदि तैयार न था, तो इस हालत में मेरे लिए तीन ही मार्ग खुले थे : या तो युद्ध के विरुद्ध

बग़ावत करना और सत्याग्रह-धर्म के अनुसार जबतक इंग्लैण्ड अपनी नीति को न त्याग दे तबतक इंग्लैण्ड की शहंशाहत से असहयोग करना, अथवा क़ानून-भंग करके क़ैद जाना, अथवा ब्रिटिश राष्ट्र को जंग में सहायता देना और ऐसा करते-करते युद्ध की हिंसा के प्रतिकार की शक्ति प्राप्त करना। चूँकि मैं प्रथम दो मार्गों के अनुसरण के लिए अपने-आपको अयोग्य पाता था, मैंने अन्तिम मार्ग ग्रहण किया।"

यह तर्क कुछ लूला-सा लगता है, पर गांधीजी किस तरह निर्णय पहले करते हैं और दलील पीछे उपजाते हैं, इसकी चर्चा आगे करेंगे। पर तर्क अकाट्य न भी हो तो न सही, गांधीजी की आत्मा को जिस समय जो सत्य जँचा, उसीके पीछे वह चले हैं। उनके तर्कों में जान-बूझकर आत्म-वंचना नहीं होती। असल बात तो यह थी कि उनकी ब्रिटिश शासन-पद्धति में बेहद श्रद्धा थी। दक्षिण अफ्रीका में इनके साथ इतना दुर्व्यवहार हुआ, तो भी इनका धीरज और इनकी श्रद्धा अडिग रही। बोअर-लड़ाई में और जूलू-बलवे में यद्यपि इनकी सहानुभूति बोअरों और जूलू लोगों की तरफ़ थी, तो भी अंग्रेज़ों को सहायता देना ही इन्होंने अपना धर्म माना। इस सहायता के बाद भारतीयों की स्थिति समझने के लिए उपनिवेश-

मंत्री जोसेफ़ चेम्बरलेन जब अफ्रीका आये और हिन्दु-स्तानियों की प्रतिनिधि-मण्डली उनसे मिलने के लिए प्रबन्ध करने लगी, तो उन्होंने साफ़ कहला दिया कि "और सब आयें, पर गांधी को नेता बनाकर न लाया जाये। उनसे एक बार मुलाक़ात हो चुकी, अब बारबार उनसे नहीं मिलना है।"

अँग्रेज़ों की यह पुरानी वृत्ति आजतक ज्यों-की-त्यों ज़िन्दा है।

गोलमेज़ परिषद् हुई तब भारतीय प्रतिनिधिगण भारतीयोंद्वारा चुने हुए नुमाइन्दे नहीं थे, पर सरकार-द्वारा नियुक्त किये हुए थे। सरकार ने हमें शान्ति दी, रक्षा दी, परतन्त्रता दी, तो फिर नुमाइन्दे भी वही नियुक्त क्यों न करे! आज भी कांग्रेस और ब्रिटिश सल्तनत में इसी सिद्धान्त पर बहस चालू है। सरकार कहती है, लड़ाई के बाद तमाम जातियों, समाजों और फिरकों के नुमा-इन्दों से हिन्दुस्तान के नये विधान के सम्बन्ध में सलाह-मशवरा करेंगे। कौन जातियाँ हैं, कौन-से समाज हैं और कौन-से फिरके हैं, इसका निर्णय भी सरकार ही करेगी। प्रान्तीय सरकारें चुने हुए नुमाइन्दों द्वारा संचालित हो रही थीं। पर वे नुमाइन्दे अपने घर रहें। सरकार तो अपनी आवश्यकता देखकर नये नुमाइन्दे पैदा करती है। गांधी

दक्षिण अफ्रीका में हिन्दुस्तानियों का प्रतिनिधि बनकर चेम्बरलेन से मिले, यह अनहोनी बात कैसे बर्दाश्त हो सकती है, इसलिए गांधी नहीं मिल सकता।

पर गांधीजी पर इसका भी कोई बुरा असर नहीं हुआ। जब योरपीय युद्ध शुरू हुआ, तब फिर सहायता दी। बाद में पंजाब में खून-खराबी हुई, रौलट क़ानून बना, जलियाँवाला बाग़ आया। गांधीजी की श्रद्धा फ़िर भी जीवित रही। नये सुधार आते हैं, तब गांधीजी उनके स्वीकार करने के पक्ष में ज़ोर लगाते हैं। ऐसी गांधीजी की श्रद्धा और अहिंसा हैं—

**"जो तोको काँटा बुवे, ताहि बोय तू फूल;**
**तोको फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल।"**

गांधीजी की यह मनोवृत्ति एकधार, अखण्डित, शुरू से आख़िरतक जारी है। हालाँकि ब्रिटिश राज्य की नेक-नीयती में उनकी श्रद्धा अब उठ गई है, फिर भी व्यवहार वही प्रेम और अहिंसा का है। गांधीजी अब भी "फूल बोने" में मस्त हैं।

यह उनकी ब्रिटिश शासन की नेकनीयती में श्रद्धा ही थी, जिसके कारण उन्होंने गत युद्ध में सहायता दी। उनकी दलील तो निर्णय के बाद बनती है, इसलिए पंगु-जैसी लगती है। पर चूँकि लड़ाई में सरकार को

सहायता देना, यह उस समय गांधीजी को अपना धर्म लगा, उन्होंने मर्यादा के भीतर सहायता देने का निश्चय किया। बोअर-लड़ाई में और ज़ूलू-विप्लव में गांधीजी की सहानुभूति बोअरों और ज़ूलू लोगों के साथ थी, पर उन्होंने माना कि अंग्रेज़ों को सहायता देना उनका धर्म था। इसलिए सहायता अंग्रेज़ों को दी। ऐसी असंगति कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एक कर्म जो एक समय धर्म होता है, वही कर्म अन्य समय में अधर्म हो सकता है। इसलिए यह कहा है कि धर्म की गति गहन है।

ऐसी ही एक असंगति की कहानी हमें महाभारत में मिलती है। महाभारत-युद्ध की जब सब तैयारी हो जाती है और योद्धा आमने-सामने आकर खड़े होते हैं, तब युधिष्ठिर भीष्म पितामह के पास जाकर प्रणाम करते हैं, और युद्ध के लिए उनकी आज्ञा माँगते हैं। युधिष्ठिर की इस विनय से भीष्म अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और कहते हैं, "पुत्र, तू युद्ध कर और जय प्राप्त कर। मैं तुझ-पर प्रसन्न हूँ, और भी जो कुछ चाहता हो वह कह, तेरी पराजय नहीं होगी।" इतनी आशीष दी, पर युद्ध तो भीष्म पितामह को दुर्योधन की ओर से ही करना था, इसलिए असंगति को समझाते हुए कहा, "मैंने कौरवों का अन्न खाया है, इसलिए युद्ध तो उन्हींकी ओर से

करूँगा, बाक़ी तो जो तुम्हें चाहिए वह अवश्य माँगो ।"

**"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित् ।**
**इति सत्यं महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवैः ॥'**

"हे महाराज ! सच तो यह है कि पुरुष अर्थ का दास है और अर्थ किसीका दास नहीं, इसलिए मैं कौरवों से बँधा पड़ा हूँ ।"

भीष्म पितामह के लिए तो कैसा अर्थ और कैसा बन्धन ? पर बात तो यह है कि यहाँ अर्थ से भी मतलब धर्म से ही है । भीष्मजी का कहना यही था कि मैं धर्म से बँधा हूँ, इसलिए युद्ध तो मैं कौरवों की तरफ़ से ही करूँगा, बाक़ी मेरा पक्ष तो तुम्हारी तरफ़ है ।

हज़ारों साल के बाद एक दूसरा महाभारत योरप में होता है । गांधीजी कहते हैं, "मैं युद्ध के पक्ष में नहीं, पर चूँकि इंग्लैण्ड की सुरक्षा में पला हूँ, इसलिए मेरा धर्म यह है कि मैं इंग्लैण्ड की सहायता करूँ ।" हज़ारों सालों के बाद इतिहास की पुनरावृत्ति का यह एक अनुपम उदाहरण है ।

गत योरपीय युद्ध चार सालतक चला और उसमें मित्रराष्ट्रों को जान लड़ाकर युद्ध करना पड़ा । कई उतार-चढ़ाव आये । भारतवर्ष में गांधीजी ने जिस खालिस मन से इंग्लैण्ड को सहायता दी, उतनी सरलता

से शायद ही किसीने दी हो। कई नेता तो विपक्ष में भी थे, पर ज्यादातर तटस्थ थे। लोकभावना में भी जब और तब में कितना सादृश्य है, यह देखनेलायक चीज़ है।

लड़ाई के ज़माने में वायसराय चैम्सफोर्ड ने तमाम नेताओं और रईस लोगों की एक युद्ध-सभा बुलाई। गांधीजी को भी निमन्त्रण आया। कुछ हिचकिचाहट और अगर-मगर के साथ गांधीजी ने सभा में शरीक होने का निश्चय किया। सभा में जो प्रस्ताव था उसके समर्थ में गांधीजी ने हिन्दी में केवल इतना ही कहा, "मैं इसकी ताईद करता हूँ।" पर जो उन्हें कहना था, वह पत्र द्वारा वाइसराय को लिखा। वह पत्र भी देखनेलायक है—

"मैं मानता हूँ कि इस भयंकर घड़ी में ब्रिटिश राष्ट्र को—जिसके कि अत्यन्त निकट भविष्य में हम अन्य उपनिवेशों की तरह साझेदार बनने की आशा लिये बैठे हैं—हमें प्रसन्नतापूर्वक और स्पष्ट सहायता देनी चाहिए। पर यह भी सत्य है कि हमारी इस मंशा के पीछे यह आशा है कि ऐसा करने से हम अपने ध्येय को शीघ्र ही पहुँच जायेंगे। कर्त्तव्य का पालन करने से अधिकार अपने-आप ही मिल जाते हैं, और इसलिए लोगों को विश्वास है कि जिस सुधार की चर्चा आपने की है उसमें कांग्रेस-लीग की योजना को आप पूरी तरह से स्वीकार करेंगे।

कई नेताओं का ऐसा विश्वास है और इसी विश्वास ने सरकार को पूर्ण सहायता देने पर नेताओं को आमादा किया है।"

गांधीजी के पत्र का यह एक अंश है। कितना निर्मल विश्वास ! उस समय हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य था। आज की तरह साम्प्रदायिक अनैक्य की दुहाई देने की कोई गुंजाइश न थी। लीग और कांग्रेस दोनों ने सम्मिलित योजना गढ़कर सरकार के सामने पेश की थी। पर सरकार ने उसे महत्त्व नहीं दिया उसे अस्वीकार किया। और इस तरह सारी आशाएँ निष्फल हुईं। जो लोग यह मानते हैं कि हिन्दू-मुस्लिम-अनैक्य ही भारत को स्वतन्त्रता देने के लिए इंग्लैण्ड के मार्ग में बाधक है, उनके लिए यह पुरानी कहानी एक सबक़ है।

आगे चलकर गांधीजी ने लिखा, "यदि मैं अपने देशवासियों को समझा सकूँ, तो उनसे यह करवाऊँ कि जंग के ज़माने में वे स्वराज्य का नाम भी न लें।"

जब वर्तमान युद्ध के आरम्भ में गांधीजी वाइसराय लिनलिथगो से मिले उसके बाद उन्होंने अपने एक वक्तव्य में कहा, "मुझे इस समय इस देश की स्वाधीनता का कोई ख़याल नहीं है। स्वतन्त्रता तो आयेगी ही, पर वह किस काम की, यदि इंग्लैण्ड और फ्रांस मर मिट जायें

या मित्रराष्ट्र जर्मनी को तबाह और दीन करके जीतें ?''
इस दोनों उक्तियों में भी वही सादृश्य जारी है।

आगे चलकर गांधीजी ने वाइसराय चेम्सफोर्ड को लिखा :—"मैं चाहता हूँ कि भारत हर हट्टे-कट्टे नौजवान को ब्रिटिश राष्ट्र की रक्षा के लिए होम दे। और मुझे यक़ीन है कि भारत का यह बलिदान ही उसे ब्रिटिश साम्राज्य का एक आदरणीय साझेदार बना देने के लिए पर्याप्त होगा। इस संकट के समय यदि हम साम्राज्य की जी-जान से सेवा करें और उसकी भय से रक्षा करदें, तो हमारा यह कार्य ही हमें हमारे ध्येय की ओर शीघ्रता से ले जायेगा। अपने देशवासियों को मैं यह महसूस कराना चाहता हूँ कि साम्राज्य की सेवा यदि हमने कर दी, तो उस क्रिया में से ही हमें स्वराज्य मिल गया, ऐसा समझना चाहिए।"

आश्चर्य है कि गांधीजी ने उस समय जिस भाषा का उपरोक्त उक्ति में प्रयोग किया, क़रीब-क़रीब वही भाषा आज सरकारी हल्कोंद्वारा हमारी माँगों के सम्बन्ध में प्रयोग की जाती है। वे कहते हैं कि इस समय केवल जंग की ही बात करो, और जी-जान से हमारा पक्ष लेकर लड़ो। बस, इसीमें तुम्हें स्वराज्य मिल जायेगा। गत युद्ध में भी सरकार की तरफ़ से कहा गया था कि इस

समय हमें सारे घरेलू झगड़ों को भूलकर युद्ध में दत्तचित्त हो जाना चाहिए। और गांधीजी ने वैसा किया भी। भारत ने अपने नौजवानों की बलि भी चढ़ाई। धन को भी साम्राज्य-रक्षा के लिए फूँका। पर उससे भारत को स्वतन्त्रता नहीं मिली। युद्ध के अन्त में जब जलियाँवाला बाग़ आया, तब गांधीजी का वह विश्वास और श्रद्धा चल बसे, पर तो भी व्यवहार में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा।

वर्तमान योरोपीय युद्ध नम्बर दो में गांधीजी ने जिस नीति का अवलंबन किया है, वह भी शुद्ध सत्याग्रह है। पिछले युद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य की मनोवृत्ति में इन्हें जो श्रद्धा थी, वह अब नहीं रही। पर सत्याग्रही की नीति ही उनके मतानुसार यह है कि जितनी ही अधिक बुराई विपक्षी में हो, उतना ही ज्यादा हमें अहिंसामय होने की ज़रूरत पड़ती है। इसलिए यद्यपि गांधीजी का असहयोग तो जारी है, पर इस संकट-काल में इंग्लैण्ड ज़रा भी तंग हो ऐसा कोई भी कार्य करना उन्हें रुचिकर नहीं है। नतीजा यह हुआ है कि ज्यों-ज्यों इंग्लैण्ड की शक्ति कम होती गई, त्यों-त्यों गांधीजी इस बात का ज्यादा ख़याल करने लगे कि ब्रिटिश सरकार को किसी तरह हमारी ओर से परेशानी न हो।

पर पिछले युद्ध और इस युद्ध में एक और फ़र्क़ है

और उस फ़र्क़ के कारण गांधीजी का युद्ध में शरीक होना या न होना, इस निर्णय पर काफ़ी असर पड़ा है।

गत युद्ध में हम बिल्कुल पराधीन थे, हमारी कोई ज़िम्मेदारी नहीं थी, हमारी कोई पूछ नहीं थी। हम उपद्रव करके अँग्रेज़ों को सहायता मिलने में कुछ हदतक रुकावट अवश्य डाल सकते थे, किन्तु यह कार्य सत्याग्रही नीति और गांधीजी की अहिंसा-नीति के ख़िलाफ़ होता। पर रुकावट डालना एक बात थी और सक्रिय सहायता देना दूसरी बात। रुकावट न डालते हुए भी सक्रिय सहायता देने में हम असहयोग कर सकते थे, तो भी गांधीजी ने सक्रिय सहायता देना ही अपना धर्म माना। "हम जब इंग्लैण्ड-द्वारा सुरक्षित हैं और खुशी-खुशी उस सुरक्षा को स्वीकार करते हैं, तब तो हमारा धर्म हो जाता है कि हम अँग्रेज़ों को सक्रिय सहायता दें, और उनकी ओर से शस्त्र लेकर लड़ें भी।" पर इस तर्क में आज की स्थिति में कोई प्राण नहीं है। क्योंकि तबकी और अबकी परिस्थिति में काफ़ी अन्तर पड़ गया है। इसलिए वह पुरानी दलील आज की स्थिति में लागू नहीं पडती।

इस बार युद्ध छिड़ा तब प्रांतों में प्रांतीय स्व-राज्य था और उनमें से आठ प्रांतों में तो स्वराज्य की बागडोर कांग्रेस के हाथ में थी। एक और प्रांत में भी

अर्थात् सिंध में आधी-पड़धी बागडोर कांग्रेस के हाथ में थी। इस तरह कुल नौ प्रांतों में कांग्रेस का आधिपत्य था। केन्द्र में भी स्वराज्य का वादा हो चुका था। और अनुमान से भी यह कहा जा सकता है कि हम पूर्ण स्वराज्य के काफ़ी निकट पहुँच गये हैं। इसलिए आज "उन्हींकी दी हुई रक्षा से हम सुरक्षित हैं" ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज हम इस योग्य बन गये हैं कि हम अपनी ही रक्षा से भी सुरक्षित हो सकते हैं। हम गत युद्ध के समय जितने पराधीन थे उतने आज पराधीन नहीं हैं। हमें आज यह कहने का नैतिक स्वत्व—क़ानूनी न सही—अवश्य है कि हम अपनी रक्षा किस तरह करेंगे, कैसे करेंगे। जहाँ इंग्लैण्ड को परेशान न करना गांधीजी ने अपना धर्म माना वहाँ यह निश्चय करना भी उनका धर्म हो गया कि भारतवर्ष पर आक्रमण हो तो उस आक्रमण का मुक़ाबिला—प्रतिरोध—हिंसात्मक उपायोंद्वारा करना या अहिंसात्मक उपायोंद्वारा। हम मारते-मारते मरें या बिना मारे भी मरना सीखें। तमाम परिस्थिति पर ध्यानपूर्वक सोच-विचार के बाद गांधीजी ने युद्ध छेड़ा उससे ही यह निश्चय कर लिया था कि उग्र हिंसा का सामना अहिंसा से ही हो सकता है। अबीसीनिया, स्पेन और चीन के युद्ध में विपद्-ग्रस्त

राष्ट्रों को गांधीजी ने अहिंसा की ही सीख दी थी। जो सलाह अन्य विपद्-ग्रस्त राष्ट्रों को दी गई थी, क्या उससे विपरीत सलाह अपने देशवासियों को दें ?

गांधीजी की दृष्टि से अहिंसा की जीवित कसौटी का समय आ चुका था। यदि अहिंसा के प्रयोग की सक्रिय सफलता का प्रदर्शन देना है, तो इससे उत्तम अवसर और क्या हो सकता था ? नैतिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से युद्ध छिड़ने से पहले ही गांधीजी इस निर्णय पर पहुँच चुके थे कि इतनी उग्र और सुव्यवस्थित हिंसा का सामना कम-से-कम हिन्दुस्तान तो हिंसात्मक उपायों-द्वारा कर ही नहीं सकता। उसके पास इतने उग्र साधन ही कहाँ हैं, जो सुव्यवस्थित मुल्कों के शस्त्रास्त्रों से मुठभेड़ ले सके ? पर यह तो गौण बात थी। प्रधान बात तो यह थी, "क्या हम भयंकर हिंसा का अहिंसा से सफल मुक़ाबिला करके संसार के सामने एक धार्मिक शस्त्र का प्रदर्शन नहीं कर सकते ?" और इसी विचार ने गांधीजी को इस निर्णय पर पहुँचाया कि भारत और इंग्लैण्ड के बीच समझौता होने पर अंग्रेजों को नैतिक सहयोग अवश्य दिया जाये, पर कांग्रेस कम-से-कम हिंसा में शरीक होकर अपनी नैतिक ध्वजा को झुकने न दे।

कांग्रेस के दिग्गज इस नीति की उत्तमता को महसूस

करते थे, पर इस मार्ग पर पाँव रखने में ही हिचकते थे। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य-जैसे तीक्ष्ण बुद्धिवादी तो न लड़ने की नीति को धर्म भी नहीं मानते थे। युद्ध के शुरू-शुरू में इस प्रश्न ने इतना ज़ोर नहीं पकड़ा। कांग्रेस की माँगें सरकार के सामने रक्खी पड़ी थीं। पर सरकार ने न तो उन्हें पूरा किया, न कोई आशा उत्पादन की। इस तरफ़ कांग्रेस के प्रस्ताव का मानसिक अर्थ दो पक्ष के लोगों का भिन्न-भिन्न था। गांधीजी सरकार से समझौता होने पर केवल नैतिक सहायताभर ही देना चाहते थे। अन्य दिग्गजों ने अपनी कल्पना में भौतिक सहायता देना भी कर्तव्य मान रक्खा था। प्रस्ताव-पर-प्रस्ताव कांग्रेस पास करती चली गई और इसकी द्वि-अर्थी भावना भी दोनों पक्ष अपने-अपने मन में पुष्ट करते रहे।

गांधीजी ने तो लेखों, वक्तव्यों और वाइसराय की मुलाक़ातों में इस चीज़ को स्पष्ट कर दिया था कि हिन्दुस्तान तो अंग्रेजों को नैतिक बल का ही दान दे सकता है। पर वाइसराय ने भी अपने मन में अवश्य मान रक्खा होगा कि भौतिक बल का दान भी समझौता होने पर मिलना नितांत असंभव नहीं। दिन निकले, महीने निकले। जर्मनी की मृत्यु-बाढ़ एक-के-बाद दूसरे राष्ट्र को अपने उदर में समेटती हुई आगे बढती चली।

जब फ्रांस का पतन हुआ, तब "मारते-मारते मरना" या "बिना मारे मरना" यह प्रश्न तेज़ी के साथ महत्त्वशील बन गया। अबतक जिस तरह से दो पक्ष अपनी-अपनी कल्पना लेकर गाड़ा हाँकते थे, वह अब असम्भव-सा हो गया। गांधीजी शुरू से इस भेद को जानते थे। शुरू से अपने सहकर्मियों से कहते थे कि मुझे छोड़ दो। पर गांधी-जी को जबतक राज़ी-खुशी उनके सहचारी छोड़ न दें, तबतक वे कांग्रेस से निकल नहीं सकते थे। अन्त में कांग्रेस के दिक्पालों ने देख लिया कि गांधीजी को अधिक दिनतक निबाहना उनके प्रति सरासर अन्याय है और वर्धा में २० जून १९४० को लम्बी बहस के बाद गांधीजी को बिदाई देदी।

यह भी गांधीजी के जीवन की एक अनोखी घटना थी। शायद इससे अत्यन्त मिलती-जुलती घटना हमारे पुराणों में युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण के वर्णन में मिलती है। गांधीजी से अन्य नेताओं के इस मतभेद की चर्चा करते हुए मैंने कहा, "बापू ! इसे मतभेद नहीं कहना चाहिए। एक शक्कर ज्यादा मीठी हो और दूसरी कम मीठी हो, तो क्या हम यह कहेंगे कि दोनों शक्करों में मत-भेद है ? बात तो यह है कि आप जहाँ शुद्ध धर्म की बात करते हैं, वहाँ अन्य नेता आपद्धर्म की बात करते

हैं। उनकी श्रद्धा इतनी बलवती नहीं है कि वे शुद्ध धर्म की वेदी पर कही जानेवाली व्यावहारिकता का बलिदान कर दें। और आप यह आशा भी कैसे कर सकते हैं कि आपकी जितनी सजीव श्रद्धा सभीके हृदय-पट पर अपना प्रभुत्व जमाले ? जैसे युधिष्ठिर स्वर्ग में गये तब एक-एक करके उनके निकटस्थ गिरते चले गये, उसी तरह आपका हाल है। ज्यों-ज्यों आप आगे बढ़ते हैं, ऊपर चढ़ते हैं, त्यों-त्यों आपके साथी पिछड़ते जाते हैं, थकान के मारे गिरते जाते हैं।" पास में बैठी हुई डा० सुशीला ने मजाक में कहा, "पर युधिष्ठिर के साथ कुत्ता तो रहा। बापू ! इस दृष्टांत से स्वर्ग में पहुँचनेवाला कुत्ता कौन-सा है ?" गांधीजी ने कहा "पहले यह बताओ कि वह युधिष्ठिर कौन-सा है ?" विषय के गंभीर्य ने सबके चेहरों पर जो एक तरह की सलवटें डाल दी थीं वह इस मज़ाक में रफ़ा हुई। सब खिलखिलाकर हँस पड़े।

पर इसका नतीजा क्या होगा ? अभी तो कालदेव इतिहास का निर्माण करते ही जाते हैं। अन्त तो बाक़ी है, होनहार भविष्य के गर्भ में है पर एक बात स्पष्ट हो गई। कांग्रेस की अहिंसा-नीति, यह एक उपयोगितावाद था। गांधीजी की अहिंसा, यह उनका प्राण है। पर कौन कह सकता है कि गांधीजी की अहिंसा कांग्रेस को

प्रभावान्वित न कर देगी ? और जो अहिंसा अवतक उपयोगिता के ढकने से ढकी थी वह अब अपना शुद्ध स्वरूप प्रकाशित न कर देगी ?

दो महीनेतक उपयोगितावाद के सेवन के पश्चात् बम्बई में फिर गांधीजी के हाथ में बागडोर सौंपना क्या यह सिद्ध तो नहीं कर रहा है कि इच्छा या अनिच्छा से कांग्रेस शुद्ध गांधीवाद की तरफ खिंची जा रही है ?

मेरा खयाल है कि जब बाहर के आक्रमणों से भारतवर्ष की रक्षा का प्रश्न सचमुच उपस्थित होगा, तब हमारे नेताओं का काफ़ी हृदय-मंथन होनेवाला है। हिंसात्मक शस्त्रास्त्रों से किसी बड़े राष्ट्र से मुक़ाबिला करने की हमारी हौंस–यदि सचमुच वह हौंस हो तो—छोटे मुहँ बड़ी बात है। दूसरी ओर हमारे पास सत्याग्रह का एक शस्त्र है, जो चाहे सान पर चढ़कर संपूर्ण न भी बन पाया हो, तो भी एक ऐसा शस्त्र है जो अन्य किसी राष्ट्र के पास आज नहीं है। इसलिए जिस दिन भारतवर्ष की रक्षा का प्रश्न सचमुच ही उपस्थित होगा उस दिन सत्याग्रह का शस्त्र गांधीजी ज़िंदा हों और खटाई में पड़ा रहे ऐसी सम्भावना नहीं। गांधीजी का तो यह भी विश्वास है कि भारत की जनता अहिंसात्मक संग्राम में पीछे नहीं रहेगी। श्रद्धा की कमी उनकी समझ में नेताओं में है, न कि जनता में।

जो हो, एक चीज़ साबित हुई। वह है गांधीजी की अहिंसा में सजीव श्रद्धा। दूसरी चीज़ जो अभी साबित होनी बाक़ी है वह है अहिंसा-शस्त्र का कौशल। उसके लिए, मालूम होता है, अवसर आ रहा है। और यदि गांधीजी के जीवन में वह अवसर आजाये और उस में उस शस्त्र की विजय साबित हो जाये, तो यह संसार के भविष्य के इतिहास-निर्माण के लिए एक अद्भुत घटना होगी।

पर बीच में भविष्य की कल्पना आगई। जो हो, अंग्रेज़ों को परेशानी न हो, गांधीजी की इस मंशा का देश ने अबतक एक स्वर से पालन किया। ख़ाकसारों ने उपद्रव किया, पर कांग्रेस शान्त रही। वह बलवान की शान्ति थी। सहज ही आज कांग्रेस लाखों आदमी कटा सकती है, जेलें ठसाठस भर सकती है। पर गांधीजी ने शांति रखकर इस युद्ध के ज़माने में जनता पर उनका कितना क़ाबू है, यह साबित कर दिया। भारतवर्ष में इतनी शांति पहले कभी न थी जितनी आज है। हमने अपनी उदारता का प्रदर्शन कर दिया। इससे हमारी शक्ति साबित हुई है। हमारी नेकनीयती का प्रमाण मिला। शुद्ध सत्याग्रह का स्वरूप इंग्लैंड के सामने आ गया। अंग्रेज़ी से हमारी लड़ाई बंद नहीं हुई है। मुमकिन है, जंग के बाद उनसे लड़ाई

हो। शायद बड़ी भयंकर लड़ाई हो। यह भी मुमकिन है कि सरकार अपनी गलतियों से कांग्रेस को झगड़ने के लिये बाध्य करे। पर गांधीजी अंग्रेज़ों को परेशानी से बचाने के लिए कुछ भी उठा न रक्खेंगे। आज अंग्रेज़ त्रस्त हैं, इसलिए उनपर आज वार करना कायरता होगी, ऐसी भावना गांधीजी के चित्त में अवश्य रही है। गांधीजी को स्वराज्य से भी सत्याग्रह ज्यादा प्रिय है। और गांधीजी तो मानते ही यों हैं कि स्वराज्य की अधिक-से-अधिक सेवा इसीमें है कि हम शुद्ध सत्याग्रह का अनुसरण करें। इसलिए गांधीजी ने ब्रिटिश सल्तनत को परेशानी से काफ़ी बचाया। इंग्लैंड इसके लिए कृतज्ञ नहीं है। न इंग्लैंड की मनोवृत्ति में कोई फ़र्क़ पड़ा है। पर गांधीजी आशा लिये बैठे हैं कि "चमत्कार का युग गया नहीं है। जबतक ईश्वर है तबतक चमत्कार भी है।" इस श्रद्धा की भाप से गांधीजी का स्टीम-एञ्जिन चला जा रहा है।

वर्तमान युद्ध के समय में गांधीजी में एक बात और मैंने देखी है। जबसे युद्ध चला है तबसे वह प्रायः सेवाग्राम में ही रहना पसन्द करते हैं। अति आवश्यकता के कारण एक बार उन्हें बंगाल जाना पड़ा। रामगढ़-कांग्रेस में तो जाना ही था। वाइसराय के पास जब-जब जाना पड़ा

जेल से छूटने के बाद
( दक्षिण अफ्रीका )

दक्षिण अफ्रीका के अन्तिम सत्याग्रह के समय का एक दृश्य

[ गांधीजी के साथ श्री कॅलनबॅक, श्री आइजॅक और श्रीमती पोलक ]

तब-तब गये। पर इन यात्राओं को छोड़कर और कहीं न तो जाना चाहते हैं, न बाहर जाने के किसी कार्यक्रम को पसंद करते हैं। पहले के जो वादे बाहर जाने के थे, वे भी उन्होंने वापस लौटा लिये। मुझसे भी एक वादा किया था, पर वह लौटा लिया गया। क्यों ? "मुझे जबतक लड़ाई चलती है, सेवाग्राम छोड़ना अच्छा नहीं लगता।" कुछ सोचते रहते होंगे। पर कभी उन्हें विचार-मग्न नहीं पाया। फिर भी मालूम होता है कि वर्तमान युद्ध में उन्हें काफ़ी विचार करना पड़ा है।

१४

पर गांधीजी कब सोचते हैं, यह प्रश्न सामने आता है। गांधीजी के पास इतना काम रहता है कि सचमुच यह कहा जा सकता है कि उन्हें एक पल की भी फुर्सत नहीं रहती। मुझे अक्सर ऐसा लगा है कि काम के इतने बाहुल्य के कारण कभी-कभी महत्त्व के कार्य ध्यान से ओझल हो जाते हैं और कम महत्त्व के कार्यों को आवश्यकता से अधिक समय मिल जाता है। द्वितीय गोलमेज़ परिषद् में जब गये तब उनके मन्त्रिवर्ग में वही लोग थे, जो सदा से उनके साथ रहे हैं। नये-नये काम की बाढ़-सी आ रही थी और इसपर भी काम शीघ्र निपट जाये ऐसी व्यवस्था नहीं थी। सिवाय नये आदमी मन्त्रिवर्ग में भर्ती करने के और क्या उपाय हो सकता था। पर यह गांधीजी को स्वीकार नहीं था। ज्यों-ज्यों काम बढ़ रहा था, त्यों-त्यों आपस में बाँट-चूँटकर काम निपटाया जाता था। फलस्वरूप, गांधीजी की नींद की कमी होती जा रही थी।

लन्दन में काम करते-करते रात के दोतक बज जाते थे। सुबह चार बजे प्रार्थना करके नौ बजेतक टहल-फिर-कर, खा-पीकर तैयार होकर फिर काम करना पड़ता था। चार घंटे से ज्यादा तो नींद कभी शायद ही मिलती थी। इसलिए गांधीजी ने कान्फ्रेंस में ही, जब स्पीचें होती रहती थीं, कुर्सी पर बैठे-बैठे आँख मूँदकर नींद लेना शुरू कर दिया। मैंने टोका, कहा, "यह कुछ अच्छा नहीं लगता कि बड़े-बड़े लोग बैठे हों, व्याख्यान दिये जा रहे हों, और आप सोते हों।" उत्तर मिला, "फिर क्या जागरण करके यहाँ बीमार पड़ना है ? और तुमने कभी देखा भी है क्या कि एक भी मर्म के व्याख्यान को मैं न सुन पाया होऊँ ?" यह बात सही भी थी। यहाँ भी उनका विवेक का मापदण्ड कुछ अलग ही था। न मालूम कौन-सी वृत्ति काम करती थी ? जब कभी कोई महत्त्व का पुरुष बोलने खड़ा होता था, तो गांधीजी चट आँखें खोल देते थे और समाप्ति पर फिर नींद ले लेते थे।

पर मुझे यह स्थिति अच्छी नहीं लगती थी। साथवालों में आपस में हमलोग यह चर्चा किया करते थे कि बापू को चाहिए कि अपने मंत्रिवर्ग में कुछ नये आदमियों का और समावेश करें। इसकी क्या ज़रूरत है

कि हर ख़त बापू या महादेवभाई ही हाथ से लिखें ? गांधीजी का दाहिना हाथ लिखते-लिखते थक जाता था, तो वह बाँयें हाथ से काम करने लगते थे। गोलमेज़ परिषद्-सम्बन्धी कामों की कभी-कभी वह अवहेलना भी करते थे। और इसके बदले गायों की प्रदर्शिनी में जाना, विलायती बकरियाँ देखना, साधारण-साधारण मनुष्यों से मिलना-जुलना, कई तरह की खब्तियों को काफ़ी से ज्यादा समय दे देना, ये सब चीज़ें बढ़ती जा रही थीं। अक्सर ग़रीबों के बच्चों से खेलते-खेलते कह दिया करते थे कि मेरी गोलमेज़ परिषद् "सेण्ट जेम्स" महल में नहीं, इन बच्चों के बीच है। ये सब चीज़ें पास में रहने-वालों को खटकती भी थीं। अब मैं देखता हूँ तो लगता है कि गांधीजी ने गोलमेज़ परिषद् की अवहेलना करके कुछ नहीं खोया। तो भी यह मैं अब भी महसूस करता हूँ कि उनके पास काम ज्यादा है, आदमी कम। क्यों नहीं स्टेनो-टाइपिस्ट रखते, जिससे कि लिखा-पढ़ी में सुभीता हो, समय की बचत हो ? कई मर्तबा मैंने इसका ज़िक्र किया, पर कोई फल नहीं हुआ।

पर प्रश्न तो यह है, "इतने काम के बीच इन्हें सोचने की फ़ुर्सत कब मिलती है ?"

कितने ऐसे क़िस्से हैं, जिनपर उनका उनके साथियों

से मतभेद हुआ। कितनी घटनाएँ मुझे याद हैं जिनके सम्बन्ध में मुझे ऐसा लगा कि गांधीजी ग़लती कर रहे हैं। और पीछे साबित हुआ कि ग़लती उनकी नहीं, उनसे मतभेद रखनेवालों की थी। एक प्रतिष्ठित मित्र ने एक मर्तबा, जब एक घटना घट रही थी, कहा कि गांधीजी ग़लती कर रहे हैं। मैंने भी कहा, "हाँ, ग़लती हो रही है।" पर फिर उसी मित्र ने याद दिलाया कि हमलोगों ने कई मर्तबा जिस चीज़ को गांधीजी की भूल माना था वह पीछे से उनकी बुद्धिमत्ता साबित हुई। यह सच बात थी। यह आश्चर्य की बात है कि इतना काम और इतने जटिल प्रश्नों की समस्या और फिर इतना शुद्ध निर्णय! भूल मनुष्यमात्र करता है। गांधीजी भी भूल करते हैं। उन्होंने अपनी कितनी भूलों का बढ़ा-चढ़ाकर ज़िक्र किया है। मज़ा यह है कि जिन चीज़ों को उन्होंने भूल माना है उन्हें उनके साथियों ने भूल नहीं माना। बल्कि उनके साथियों ने यह माना कि गांधीजी ने अपनी भूल स्वीकार करने में भूल की है! भूल मनुष्यमात्र करता ही है। गांधीजी भी करते हैं, पर सबसे कम।

गांधीजी का निर्णय करने का तरीक़ा क्या है? वह कैसे सोचते हैं? इतने कामों के बीच कब सोचते हैं? गांधीजी को मैंने कभी विचारमग्न नहीं देखा। प्रश्न सामने

आया कि झट गांधीजी ने फ़ैसला दिया। बड़े-बड़े मौक़ों पर मैंने पाया है कि प्रश्न उपस्थित हो गया है, निर्णय करने का समय आ गया है, पर जबतक ऐन मौका नहीं आया, तबतक निर्णय नहीं करते।

गोलमेज़ परिषद् की प्रथम बैठक में उनका महत्त्व-पूर्ण व्याख्यान होनेवाला था, जो उनका प्रथम व्याख्यान था। उसे सुनने को, उनके विचार जानने को सब लोग अत्यन्त उत्सुक थे। गांधीजी ने न कोई विचार किया है, न तैयारी ही की है। और वहाँ पहुँचते ही धारा-प्रवाह, मर्म की बातें उनकी ज़बान से निकलने लगती हैं। अत्यन्त महत्त्व के काम के लिए वाइसराय से मुलाक़ात करने जा रहे हैं। पाँच मिनट पहले मैं पूछता हूँ, "क्या कहेंगे?" उत्तर मिलता है, "मेरा मस्तिष्क शून्य है। पता नहीं, क्या कहूँगा।" और वहाँ पहुँचते ही कोई अनोखी बात कह बैठते हैं। यह एक अद्‌भुत चीज़ है।

अहमदाबाद में मिल-मज़दूरों की हड़ताल हुई। न्याय मज़दूरों के साथ था, यह गांधीजी ने माना था। मिल-मालिकों से भी प्रेम था। इसलिए एक हदतक तो प्रेम का भी झगड़ा था। मज़दूर पहले तो जोश में रहे, पीछे ठंडे पड़ने लगे। भूख के मारे चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। मज़दूरों की सभा में गांधीजी व्याख्यान दे रहे थे।

मज़दूरों के चेहरे सुस्त थे, अचानक गांधीजी के मुहँ से निकल पड़ा, "यदि हड़ताली डटे न रहे और जबतक फैसला न हो तबतक हड़तालियों ने हड़ताल को जारी न रक्खा, तो मैं भोजन न छूऊँगा।" यह अचानक निर्णय मुहँ से निकल पड़ा। न पहले कोई विचार उपवास का था, न कोई मन में तर्क करके तत्त्व की तोलमोल की थी। राजकोट का उपवास भी इसी तरह अचानक ही किया गया था।

## १५

इन घटनाओं में एक बात मैंने स्पष्ट पाई। गांधीजी निर्णय करने के लिए न विचारमग्न होते हैं, न अपने निर्णय को विचार की कसौटी पर पहले कसते हैं। निर्णय पहले होता है, तर्क-दलील पीछे पैदा होती है। यही कारण है कि कभी-कभी उनकी दलीलें कच्ची मालूम देती हैं, तो कभी-कभी **"घृताधारं पात्रं व पात्राधारं घृतम्"** की तरह अत्यन्त सूक्ष्म या तोड़ी-मरोड़ी हुई, या खींचा-तानी की हुई मालूम होती हैं। कभी-कभी ऐसी दलीलों के मारे उनके विपक्षी परेशान हो जाते हैं। उन्हें चाणक्य बताते हैं। उन्हें उस मछली की उपमा दी जाती है, जो अपनी चिकनाहट के कारण हाथ की पकड़ में नहीं आती और फिसलकर कब्ज़े से निकल जाती है।

पर दरअसल बात यह है कि गांधीजी की दलीलें सहज स्वभाव की होती हैं। पर चूँकि ये दलीलें निर्णय के बाद पैदा होती हैं, न कि निर्णय दलील और तर्क की भित्ति पर खड़ा किया जाता है, इसलिए उनका सारे-

का-सारा निर्णय तक कभी अनावश्यक जटिलता लिये, कभी चाणक्यीय वाग्ज़ाल से भरा हुआ, और कभी थोथा प्रकट होता है। और हो भी क्या सकता है ? सूरज से पूछो कि आप सर्दी में दक्षिणायन और गर्मी में उत्तरायण क्यों हो जाते हैं, तो क्या कोई यथार्थ उत्तर मिलेगा ? सर्दी-गर्मी उत्तरायण-दक्षिणायन के कारण होती है, न कि उत्तरायण-दक्षिणायन सर्दी-गर्मी के कारण। गांधीजी की दलीलें भी वैसी ही हैं। वह निर्णय के कारण बनती हैं, न कि निर्णय उनके कारण बनता है। असल में तो ज़बर्दस्त दलील उनके निर्णय के बारे में यही हो सकती है कि यह गांधीजी का निर्णय है। यह मैं अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूँ; क्योंकि मैंने यह पाया है कि उनका निर्णय उनकी दलीलों से कहीं अधिक प्राबल्य रखता है, कहीं अधिक अकाट्य होता है।

"चार तरह के सत्यानाश" वाली स्वतन्त्रता-दिवस के उपलक्ष्य में जो शपथ है, उसमें कथन है कि अँग्रेज़ों ने भारतवर्ष का आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक नाश किया है। यह पुरानी शपथ है, जो वर्षों से चली आती है। पर इस साल काफ़ी कोलाहल हुआ। अंग्रेज़ी पत्रकारों ने और कुछ अँग्रेज़ नेताओं ने कहा कि "यह सरासर झूठ है। हमलोगों ने कब आध्या-

त्मिक या सामाजिक नाश किया ? यह कथन ही नितान्त असत्य है कि हमने भारतीय अध्यात्म या संस्कृति का खून किया है।"

बात में कुछ वज़न भी है, पर जैसा कि हर दफ़ा होता है, गांधीजी जो कहते हैं उसका अर्थ जनता या सर्वसाधारण कुछ भी करे, गांधीजी को तो वही अर्थ मान्य है जो उनका अपना है। वह शब्दों के साहित्यिक अर्थ के क़ायल नहीं हैं। वह शब्दों में जो तत्त्व भरा रहता है, उसके पक्षपाती हैं। कांग्रेस ने कहा, आज़ादी चाहिए। गांधीजी ने कहा, "हाँ, आज़ादी चाहिए।" पर जवाहरलालजी आज़ादी माँगते हैं तो वह कुछ अलग चीज़ चाहते हैं। गांधीजी की आज़ादी अलग चीज़ है। गांधीजी की आज़ादी पूर्ण स्वराज्य तो है ही, पर कई पहलुओं से महज़ राजनैतिक आज़ादी की अपेक्षा अधिक जटिल भी है। गांधीजी के पूर्ण स्वराज्य में अँग्रेज़ों के लिए तो त्याग है ही, पर भारतीयों के लिए भी सुख की नींद नहीं। आज़ादी कहते-कहते गांधीजी "पूर्ण स्वराज्य" शब्दों का प्रयोग करने लगते हैं। फिर "रामराज्य" कह जाते हैं।

असल में तो वह रामराज्य ही चाहते हैं। कई मर्तबा उन्होंने पाश्चात्य चुनाव-प्रणाली की निन्दा की है और

रामराज्य को श्रेष्ठ माना है। क्योंकि उनकी दृष्टि में रामराज्य के माने पूर्ण स्वराज्य हो सकता है, पर पूर्ण स्वराज्य के माने राक्षस राज्य भी हो सकता है। जर्मनी स्वतन्त्र है, ऐसा हम मान सकते हैं। पर गांधीजी ऐसी स्वतन्त्रता नहीं चाहते। वह मुद्दे के पीछे चलते हैं, शब्द के गुलाम नहीं हैं। हलुवा कहो या और किसी नाम से पुकारो, वह एक पोषक और स्वादिष्ट भोजन चाहते हैं। वह शब्द का ऐसा अर्थ करते हैं कि जिसके पीछे कुछ मुद्दा रहता है, तथ्य रहता है। इसलिए हर शब्द का अपना अर्थ करते हैं और उसीपर डटे रहते हैं। इसमें बहुत ग़लतफ़हमियाँ हो जाती हैं, पर इससे उनको व्याकुलता नहीं होती।

कांस्टिट्यूएण्ट असेम्बली शब्द के अर्थ का भी शायद यही हाल है। रामगढ़ के सविनय आज्ञा-भंग के प्रस्ताव के पीछे जो क़ैद लगी है उसको लोग भूल जाते हैं और आज्ञा-भंग को याद रखते हैं। पर गांधीजी आज्ञा-भंग को ताक पर रखकर उसके पीछे जो क़ैद है, उसकी रटन करते हैं। लोग जब रसगुल्ला-रसगुल्ला चिल्लाते हैं, तब उनकी मंशा होती है एक गोल, अंडाकार सफ़ेद चीज़ से जो मीठी और रसभरी होती है। पर गांधीजी इतने से सन्तुष्ट नहीं। उन्हें गोलाकार, अण्डाकार या सफ़ेदी की परवाह

नहीं। चाहे चपटी क्यों न हो, चाहे पिलास लिये क्यों न हो, पर मीठी तो हो ही, ताज़गी भी लिये हो। उसमें कोई ज़हर न मिला हो, स्वच्छ दूध की बनी हो, जो-जो उसमें वांछनीय चीज़ें होती हैं वे सब हों, फिर शक्ल चाहे कुछ भी हो, रंगरूप की कोई क़ैद नहीं। शक्कर सफ़ेद न हो और लाल हो और उसके कारण रसगुल्ले का रंग यदि लाल है तो उन्हें ज्यादा पसन्द है। गांधीजी ने भी जब "चार सत्यानाश" वाली शपथ का समर्थन किया तो उनका अपना अर्थ कुछ और था, कांग्रेस का अर्थ कुछ और था।

इसलिए जब कुछ प्रतिष्ठित अँग्रेज़ों ने इस शपथ की शिकायत की और इसे असत्य और हिंसात्मक बताया तो झट गांधीजी ने अपनी व्याख्या दे डाली—"मेरे पिताजी सीधे-सादे आदमी थे। पाँव में नरम चमड़े का देशी जूता पहना करते थे। पर जब उन्हें गवर्नर के दरबार में जाना पड़ा, तो मौजा पहना और बूट पहने। कलकत्ते में मैंने देखा कि कुछ राजा-महाराजाओं को कर्ज़न के दरबार का न्यौता आया तो उन्हें अजीब तैयारियाँ करनी पड़ीं। उनकी बनावट और स्वांग इतने भद्दे थे कि मानो वह एक खानसामे के भेष में हों, ऐसे लगते थे। हज़ारों भारतीय ऐसे हैं जो अँग्रेज़ीदाँ तो बन गये, पर अपनी भाषा से

कोरे हैं। क्या यह संस्कृति और अध्यात्म का ह्रास नहीं है ? माना कि यह हमने अपनी स्वेच्छा से किया, पर स्वेच्छा से हमने आत्म-समर्पण किया, इससे अँग्रेज़ों का दोष कम हो जाता है ? जो बेड़ियाँ बन्दी को बन्धन में रखती हैं, उन्हींकी यदि बन्दी पूजा करने लग जाये और अपने बन्धनकर्त्ता का अनुवर्तन करे तो फिर ह्रास का कौन-सा अध्याय बाक़ी रहा ?"

यह कुछ अनोखी-सी दलील है, पर इस दलील ने "शपथ" से पैदा हुई कटुता को अवश्य ही कम कर दिया। साथ ही, गांधीजी के विपक्षियों को यह लगे बिना नहीं रहा कि बाल की खाल खींची जाती है। पर दर-असल तो बात यह है कि उस शपथ के माने गांधीजी के अपने और रहे हैं, लोगों के कुछ और। गांधीजी के निर्णय तर्क के आधार पर नहीं होते। तर्क पीछे आता है, निर्णय पहले बनता है। दरअसल शुद्ध बुद्धिवालों को निर्णय में ज्यादा सोच-विचार नहीं करना पड़ता। एक अच्छी बन्दूक से निकली हुई गोली सहसा तेज़ी के साथ निशाने पर जाके लगती है। उसी तरह स्थितप्रज्ञ का निर्णय भी यंत्र की तरह झटपट बनता है, क्योंकि **"सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।"**

पर यह उनकी विभूति—और इसे विभूति के अलावा

और क्या कह सकते हैं ?—मित्र और विपक्षी दोनों को उलझन में डाल देती है। यह चीज़ गांधीजी को रहस्य-मय बना देती है। इसके कारण कितने ही लोग उनके कथन को अक्षरशः न स्वीकार करके उसे शंका की दृष्टि से देखते हैं।

गांधी-अरविन पैक्ट के समय की बात है। क़रीब-क़रीब सारी चीज़ें तय होगई। एक-एक शब्द वाइसराय और गांधीजी ने आपस में मिलकर पढ़ लिया। पढ़ते-पढ़ते वाइसराय के घर पर दोपहरी होगई। वाइसराय ने कहा : "मैं भोजन कर लेता हूँ, आप भी थक गये हैं। मेरे कमरे में आप सो जाइए, फिर उठकर आगे काम करेंगे।" गांधीजी सो गये। अढ़ाई बजे सोकर उठे, हाथ-मुहँ धोया। गांधीजी का कथन है, "मुझे कुछ बेचैनी-सी मालूम दी। मैंने सोचा, यह क्या है ? बेचैनी क्यों है ? यह शारीरिक बेचैनी नहीं थी, यह मानसिक बेचैनी थी। मुझे लगा कि मैं कोई पाप कर रहा हूँ। इक़रारनामे का मसविदा मैंने लिया और उसे पढ़ना शुरू किया। पढ़ते-पढ़ते ज़मीन-सम्बन्धी धारा पर पहुँचते ही मेरा माथा ठनका। बस, मैंने जान लिया, यही भूल हो रही थी। वाइसराय से मैंने कहा, यह मसविदा ठीक नहीं है। मैं इसे नहीं मान सकता। यह सही है, कि मैंने इसकी

स्वीकारोक्ति देदी थी, पर मैंने देखा कि मैं पाप कर रहा था। इसलिए मैं इस स्वीकारोक्ति से वापस हटता हूँ।"

वाइसराय बेचारा हक्का-बक्का रह गया। यह भी कोई तरीक़ा है ? दलीलें तो गांधीजी के पास हज़ार थीं और दलीलें शिकस्त देनेवाली थीं। पर दलीलों ने नाट्य-मंच पर पीछे प्रवेश किया, पहले आया निर्णय। अंत में वाइसराय दलीलों के क़ायल हुए। पर क्या वाइसराय ने नहीं माना होगा कि यह आदमी टेढ़ा है ?

६ अप्रैल को सत्याग्रह-दिवस मनाया जाता है। इसके निर्णय का इतिहास भी ऐसा ही है। कुछ दिन पहले तक गांधीजी ने इसकी कोई कल्पना ही नहीं की थी। एक रात गांधीजी सो जाते हैं। रात को स्वप्न आता है कि तारीख़ ६ को सत्याग्रह-दिवस मनाओ। सहकर्मी कहते हैं कि अब समय नहीं रह गया, सफलता मुश्किल है। पर इसकी कोई परवाह नहीं। मुनादी फिरादी जाती है और छः तारीख़ का दिन शान के साथ सफल होता है। क्या यह कोई दलील पर बना हुआ निर्णय था ? क्या सहकारियों ने नहीं सोचा होगा कि यह कसा बेजोड़ आदमी है, जो हठात् निर्णय करता है और दलीलें पीछे से पैदा करता है ? पर मेरा खयाल है कि जो अन्तरात्मा से प्रेरित होकर निर्णय करते हैं, उनके निर्णय तर्क के

आधार पर नहीं होते। पर यह अन्तरात्मा सभीको नसीब नहीं होती। यह क्या वस्तु है, इसके समझने का प्रयास भी कठिन है। प्रस्तुत विषय तो इतना ही है कि गांधीजी के निर्णय कैसे हुआ करते हैं।
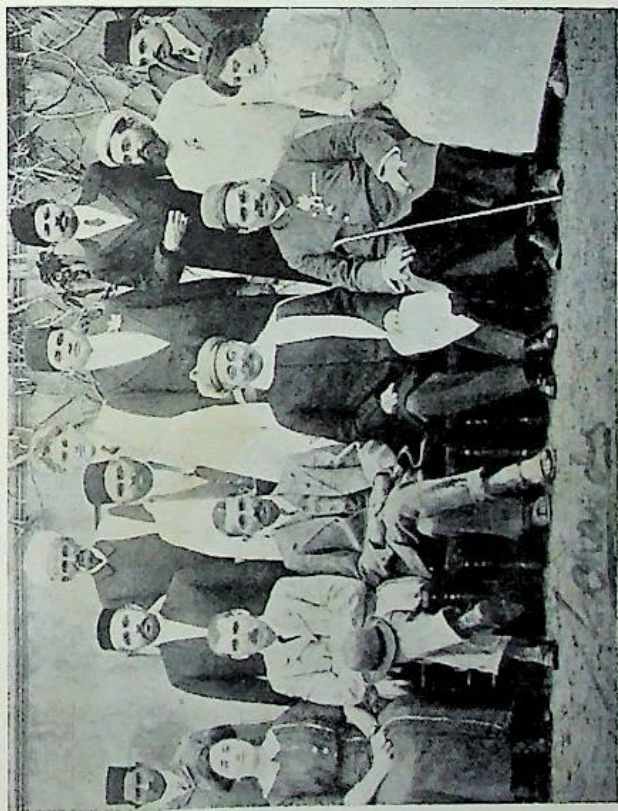
गोखले के स्वागत में—दक्षिण अफ्रीका

( सन् १९१२ )

दक्षिण अफ्रीका से विदाई

( सन् १९१४ )

## १६

जबसे मुझे गांधीजी का प्रथम दर्शन हुआ, तबसे मेरा उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध जारी है। पहले कुछ साल मैं समालोचक हो उनके पास जाता था, उनके छिद्र ढूँढ़ने की कोशिश करता था, क्योंकि नौजवानों के आराध्य लोकमान्य की ख्याति को इनकी ख्याति टक्कर लगाने लग गई थी, जो मुझे रुचिकर नहीं मालूम देती थी। पर ज्यों-ज्यों छिद्र ढूँढ़ने के लिए मैं गहरा उतरा, त्यों-त्यों मुझे निराश होना पड़ा और कुछ अरसे में समालोचक की वृत्ति आदर में परिणत हो गई, और फिर आदर ने भक्ति का रूप लेलिया। बात यह है कि गांधीजी का स्वभाव ही ऐसा है कि कोई विरला ही उनके संसर्ग से बिना प्रभावान्वित हुए छूटता है।

हम जब स्वप्नावस्था में होते हैं तब न करनेयोग्य कार्य हम कर लेते हैं, जो जाग्रत अवस्था में हम कभी न करें। पर शारीरिक जाग्रतावस्था में भी मानसिक सुषुप्ति रहती है और ध्यानपूर्वक खुर्दबीन से अध्ययन

करनेवाले मनुष्य को, रूहानी बेहोशी में किये गये कामों से, उस तिल के तेल का माप मिल जाता है। गांधीजी से मेरा पच्चीस साल का संसर्ग रहा है। मैंने अत्यन्त निकट से, सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा, उनका अध्ययन किया है। समालोचक होकर छिद्रान्वेषण किया है। पर मैंने उन्हें कभी सोते नहीं पाया। मालूम होता है, मानो वह हर पल जाग्रत रहते हैं। इसलिए जब वह मुझे कहते हैं कि, "हर पल मेरा जीवन ईश्वर-सेवा में व्यतीत होता है," तो मैं इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं पाता। ऐसा कथन अभिमान की निशानी नहीं है; क्योंकि गांधीजी द्रष्टा होकर ही अपना विवेचन देते हैं। यदि द्रष्टा होकर कोई अपने-आपको देखे, तो फिर वह चाहे अपना विवरण दे या पराया, उसमें कोई भेद नहीं रह जाता। और वह अपना विवरण भी उतना ही बेसंकोच दे सकता है जितना कि पराया।

यरवडा में जब वह उपवास के बाद उपवास करने लगे तो मुझे ऐसा लगा कि शायद अब वह यह सोचते होंगे, "मैं बूढ़ा होकर अब जानेवाला तो हूँ ही, इसलिए क्यों न लड़ते-लड़ते जाऊँ?" मैंने उन्हें एक तरह का उलाहना देते हुए कहा, "मालूम होता है कि आपने जीकर देश का भला किया, पर अब चूँकि मरना है,

इसलिए मृत्यु से भी आप देश को लाभ देना चाहते हैं।" उन्होंने कहा, "ऐसी कल्पनामात्र भी अभिमान है, क्योंकि करना, कराना, न कराना यह ईश्वर का क्षेत्र है। यदि इस तरह का मन में हम कोई नक़शा खींचें तो यह ईश्वर के अस्तित्व की अवहेलना होगी और इससे हमारा अभिमान साबित होगा।" मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ; अहंकार का उन्होंने कहाँतक नाश किया है इसका मुझे पता लगा।

**"काछ दृढ़ाँ कर बरसणा मन चंगा मुखमिट्ठ;**
**रणसूरा जगवल्लभा सौ में बिरला दिट्ठ।"**

अहंकार से गांधीजी इतनी दूर हैं, यह उनके अन्तर में झाँकने से ही पता लग सकता है।

हरिजन-सेवक-संघ के हर पदाधिकारी को एक तरह की शपथ लेनी पड़ती है। उसका आशय है कि 'मैं अपने जीवन में ऊँच-नीच का भेद नहीं मानूँगा।' इस शपथ के लेने का समय आया तो मैंने इन्कार किया। मैंने कहा, कि केवल जन्म के अकस्मात् न कोई ऊँचा है न नीचा, यह तो मैं सहज ही मान सकता हूँ। पर यदि एक आदमी चोर है, दुष्ट है, पापी है, उसके पाप-कर्म प्रत्यक्ष हैं और मुझमें वे ऐब नहीं हैं तो मैं अभिमान न भी करूँ तो भी, इस ज्ञान से कि मैं अमुक से भला

हूँ, कैसे वंचित रह सकता हूँ ? इसके माने यह हैं कि मैं द्रष्टा होकर भी यह मान सकता हूँ कि मैं अमुक से ऊँचा हूँ, अमुक से नीचा।"

इस बहस ने उन्हें क़ायल नहीं किया, तो मैंने मुद्दे की दलील पेश की, "आप अपने ही को लीजिए। आप ईश्वर के अधिक निकट हैं बनिस्बत मेरे, अब क्या आप इस बात को—आपमें अभिमान न होते हुए भी-भूल जायेंगे कि आप ऊँचे हैं और मैं नीचा हूँ ?"

"पर यह बात ही सही नहीं है; क्योंकि जबतक हम अपनी मंज़िल तय न करलें, कौन कह सकता है कि ईश्वर के निकट कौन है, और दूर कौन ? जो दूर दिखाई देता है वह निकट भी हो सकता है और जो निकट दिखाई देता है वह दूर भी हो सकता है। मैं हिन्दुस्तान से एक बार अफ्रीका जा रहा था। जहाज़ पर ठीक समय पर नहीं पहुँच सका। लंगर उठ चुका था, इसलिए एक नाव में बैठकर मुझे जहाज़ के पास पहुँचाया गया। पर तूफ़ान इतना था कि कई बार मेरी किश्ती जहाज़ के बाजू में टकरा-टकराकर दूर हट गई। अन्त में जैसे-तैसे मुझे जहाज़ पर चढ़ाया गया। पर यह भी संभव था कि जैसे किश्ती कई बार जहाज़ से टकराकर दूर निकल गई, वैसे दूर ही रह जाती और मैं जहाज़ पर सवार ही

न हो पाता। क्या केवल किश्ती के छूजाने से हम यह कह सकते हैं कि हम जहाज़ के निकट पहुँच गये ? निकट पहुँचकर भी तो दूर चले जा सकते हैं। तो मैं फिर कैसे मानलूँ कि मैं ईश्वर के निकटतर हूँ और अमुक मनुष्य दूर है ? ऐसी कल्पना ही भ्रममूलक है और अहंकार से भरी है।''

मुझे यह दलील मोहक लगी। अधिक मोहक तो यह चीज़ लगी कि गांधीजी किस हदतक जाग्रत हैं। राजा का स्वाँग भरनेवाला कलाकार अपने स्वाँग से मोहित नहीं होता। गांधीजी अपने बड़प्पन में बेभान नहीं हैं। अहंकार मोह का एक दूसरा नाम है। जाग्रत मनुष्य को मोह कहाँ, अहंकार कहाँ ? यही कारण है कि गांधीजी कभी-कभी निस्संकोच आत्म-श्लाघा भी कर बैठते हैं। ''मैं प्रचार-शास्त्र का पंडित हूँ; अखबारनवीसी में निपुण हूँ; मैं पक्का बनिया हूँ; मैं शरीर-शास्त्र का विद्यार्थी हूँ; मेरा दावा है कि मैं अड़तीस वर्ष से गीता के अनुसार आचरण करता आ रहा हूँ ( यह सन् १९२९ ई० में इन्होंने लिखा था ); मैं सत्य का पुजारी हूँ; मेरा जीवन अहर्निश ईश्वर-सेवा में बीतता है।'' इस शब्दावली में और किसीके मुहँ से अहंकार की गन्ध आ सकती है, पर गांधीजी के मुहँ से नहीं। क्योंकि गांधीजी तटस्थ

होकर अपनी विवेचना करते हैं।

एक दक्ष सर्जन छुरी लेकर चीरफाड़ करके मनुष्य-शरीर के भीतर छिपे हुए अवयवों को दर्शकों के सामने ला देता है। सड़े हुए हिस्से को निर्दयता से काट डालता है, टाँके लगाता है, और इस बेरहमी से छुरी चलाता नज़र आता है, मानो वह ज़िन्दा शरीर पर नहीं बल्कि एक लकड़ी पर कौशल दिखला रहा हो। पर वही सर्जन यह व्यवहार अपने ऊपर नहीं कर सकता। ऐसा सर्जन कहाँ, जो हँसते-हँसते काम पड़ने पर अपनी सड़ी टाँग को काट फेंके? पर गांधीजी वैसे सर्जन हैं। उनके स्नायु ममता-रहित हो गये हैं, इसलिए गांधीजी जिस बेरहमी से परपुरुष को नश्तर मार सकते हैं उससे कहीं अधिक निर्दयता से अपने ऊपर नश्तर चला सकते हैं। "मैंने हिमालय के समान बड़ी भूल की है, मैंने अमुक पाप किया," ऐसी स्वीकारोक्तियों से उनकी आत्मकथा भरी है। क्या आश्चर्य है यदि वह कहें कि "बुद्ध की अहिंसा मेरी अहिंसा से न्यून थी। टॉल्स्टॉय कभी अपने विचारों का पूर्ण अनुसरण नहीं कर सका, क्योंकि उसके विचार उसके आचारों से कई मील आगे दौड़ते थे। मैं अपने विचारों से अपने आचार को एक क़दम आगे रखने का प्रयत्न करता आ रहा हूँ।" ये उक्तियाँ अभिमान की

नहीं, एक तटस्थ जर्राह की हैं, जो उसी दक्षता और कुशलता से अपने-आपको चीरफाड़ सकता है, जिस दक्षता से वह औरों की चीरफाड़ करता है।

सूक्ष्मतया अध्ययन करनेवाले को सहज ही पता लग जाता है कि अभिमान गांधीजी को छूतक नहीं गया। मेरा ख़याल है कि मनुष्यों की परख छोटे कामों से होती है, नकि बड़े कामों से। बड़े-से-बड़ा त्याग करनेवाला रोज़मर्रा के छोटे कामों में बेहोशी भी कर बैठता है और कभी-कभी अत्यन्त कमीना काम भी कर लेता है। कारण यह है कि बड़े कामों में लोग जाग्रत रहकर काम के साथ-साथ आत्मा को जोड़ देते हैं, इसलिए वह कार्य दिप उठता है। पर छोटे कामों में बेहोशी में मनुष्य बेध्यान बन जाता है। ऐसे मनुष्य के सम्बन्ध में यह साबित हो जाता है कि उसका त्याग उसका एक स्वाभाविक धर्म नहीं बन गया है। पर गांधीजी के बारे में यह कहा जा सकता है कि चाहे छोटा हो या बड़ा, सभी काम वह जाग्रत होकर करते हैं। इसके माने यह हैं कि त्याग, सत्य, अहिंसा इत्यादि उनका स्वाभाविक धर्म बन गया है। उन्हें धर्म-पालन करने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता और यदि प्रयत्न करना पड़ता है तो अत्यन्त सूक्ष्म। वह आठ पहर जाग्रत रहते हैं। यह कोई साधारण स्थिति नहीं है।

गांधीजी को एक महात्मा के रूप में हमने देखा, एक नेता के रूप में भी देखा, पर गांधीजी का असल रूप तो "बापू" के रूप में देखने को मिलता है। सेवाग्राम में बड़े-बड़े मसले आते हैं। वाइसराय से खतोकिताबत होती है, वर्किंग कमेटी की बैठकें होती हैं, बड़े-बड़े नेता आते हैं। मंत्रि-मंडल के लोग कांग्रेस-राज के ज़माने में सलाह-सूत के लिए आते ही रहते थे। पर आश्रमवासी न बड़े लोगों की चिट्ठियों से चौंधियाते हैं, न बड़े नेताओं को देखकर मोहित होते हैं। न राजनीति में उन्हें कोई बड़ी भारी दिलचस्पी है। उन्हें तो बापू ने क्या खाया, क्या पिया, क़ब उठ गये, कब सो गये, फलाँ से क्या कहा, फलाँ ने क्या सुना, इन बातों में ज्यादा रस है। और गांधीजी भी आश्रम की छोटी-छोटी चीज़ों में आवश्यकता से अधिक रस लेते हैं।

आश्रम भी क्या है, एक अजीब मण्डली है। उसे शिवजी की बरात कहना चाहिए। कई तरह के तो रोगी हैं, जिनकी चिकित्सा में गांधीजी ख़ास दिलचस्पी लेते

हैं। पर सब-के-सब बापू के पीछे पागल हैं। मैंने एक रोज़ देखा कि एक रोगी के लिए जाड़े में ओढ़ने के लिए रजाई बनाई जा रही है। बा की फटी-पुरानी साड़ियाँ लाई गईं। गांधीजी ने अपने हाथ से उन्हें नापा। कितना कपड़ा लगेगा, इसकी कूत की गई। रजाई के भीतर रुई की जगह पुराने अखबारों को एक के ऊपर दूसरी परत रखकर कपड़े के साथ सीया जा रहा था। गांधीजी ने सारा काम दिलचस्पी से कराया। मुझे बताया कि अखबार रुई से ज्यादा गरम है। मुझे लगा कि ऐसे-ऐसे कामों में क्या इनका बहुमूल्य समय लगना चाहिए? मैंने मज़ाक में कहा, "जान पड़ता है, आपको आश्रम के इन कामों में देश के बड़े-से-बड़े मसलों से भी ज्यादा दिलचस्पी है।" "ज्यादा तो नहीं, पर उतनी ही है, ऐसा कहो।"

मैं अवाक् रह गया। क्योंकि गांधीजी ने गम्भीरता से उत्तर दिया था, मज़ाक में नहीं। पर बात सच्ची है। शायद इसका यह भी कारण हो कि गांधीजी रात-दिन यदि गम्भीर मसलों पर ही विचार किया करें, तो फिर उन्हें तनिक भी विश्राम न मिले। शायद आश्रम उनके लिए परोपकार और खेल की एक सम्मिलित रसायन-शाला है। आश्रम गांधीजी का कुटुम्ब है। महान्-से-महान् व्यक्ति को भी कौटुम्बिक सुख की चाह रहती है।

गांधीजी का वैसे तो सारा विश्व कुटुम्ब है, पर आश्रम के कुटुम्ब की उनपर विशेष ज़िम्मेदारी है। उस ज़िम्मेदारी को वह निर्मोही होकर निबाहते हैं।

आश्रम में उन्होंने इतने भिन्न-भिन्न स्वभाव और शक्ति के आदमी रक्खे हैं कि बाहरी प्रेक्षक को अचम्भा होता है कि यह शिवजी की बरात क्यों रक्खी है! परन्तु एक-एक का परिचय करने से पता चलता है कि हरेक का अपना स्थान है। बल्कि गांधीजी उनमें से कई को कुछ बातों में तो अपने से भी अधिक मानते हैं। किसी आध्यात्मिक प्रश्न का निराकरण करना होता है तो वे अक्सर अपने साथियों—विनोबा, किशोरलाल भाई, काका साहब आदि-को बुला लेते हैं। ऐसे साथियों को रख-कर ही मानो उन्होंने अपने मनमें उच्च-नीच-भावना नष्ट कर डाली है। जो काम हलके-से-हलका माना जाता है उसे करनेवाला और जो काम ऊँचे-से-ऊँचा माना जाता है, उसे करनेवाला—दोनों आश्रम में भोजन करते समय साथ-साथ बैठते हैं। जैसे पंक्ति में उंच-नीच का भेद नहीं है, वैसे ही गांधीजी के मनमें और उनके आश्रमवासियों के मनमें भी यह भेद नहीं है।

कुछ दिन पहले की बात है। वाइसराय से मिलने के लिए गांधीजी दिल्ली आये हुए थे। पर वापस सेवा-

ग्राम पहुँचने की तालावेली लगी हुई थी । वापस पहुँचने के लिए एक प्रकार का अधैर्य-सा टपकता था । अंत में गांधीजी ने जब देखा कि शीघ्र वापस नहीं जा सकते, तो महादेवभाई को झटपट सेवाग्राम लौटने का आदेश दिया । काम तो काफ़ी पड़ा ही था और मैं नहीं समझ सका कि इतने बड़े मसले के सामने होते हुए कैसे तो वापस जाने का उतावलापन वह खुद कर सकते थे और कैसे महादेवभाई को यकायक वापस लौटा सकते थे । मैंने कहा, "इतने बड़े काम के होते हुए वापस लौटाने का यह उतावलापन मुझे कुछ कम जँचता है ।" "पर मेरी ज़िम्मेदारी का तो ख़याल करो ।" गांधीजी ने कहा । "मैं तो सेवाग्राम में एक मजमा लेकर बैठा हूँ । रोगी तो हैं ही, पर पागल-पन भी वहाँ है । कभी-कभी तो मन में आता है कि बस अब मैं सबको छोड़ दूँ और केवल महादेव को ही पास रक्खूँ । बा चाहे तो वह भी रहे । पर सबको छोड़ दूँ, तब तो ज़िम्मेदारी से हट जाता हूँ । पर जबतक इस मजमे की ज़िम्मेदारी लेकर बैठा हूँ, तबतक तो मुझे उस ज़िम्मेदारी को निबाहना ही चाहिए । यही कारण है कि मेरा शरीर तो दिल्ली में है, पर मेरा मन सेवाग्राम में पड़ा है ।"

सेवाग्राम के कुटुम्ब के प्रति उनके क्या भाव हैं इस-पर ऊपरी उद्गार कुछ प्रकाश डालते हैं ।

१८

गांधीजी के यहाँ एक-एक पैसे का हिसाब रक्खा जाता है। गांधीजी की आदत बचपन से ही रुपये-पैसे का हिसाब सावधानी से रखने की रही है। गांधीजी व्यवस्था-प्रिय हैं। यह भी बचपन से ही उनकी आदत है। इस-लिए उनकी झोंपड़ी साफ़-सुथरी, लीपी-पोती और व्यव-स्थित है। कमर में कछनी है, वह भी व्यवस्थित। एक वाइसराय ने कहा कि गांधीजी बुड्ढे तो हैं, पर उनकी चमड़ी की चिकनाहट युवकों की-सी है। यह सही बात है कि स्वास्थ्य का पूरा जतन रखते हैं। हर चीज़ में किफ़ायतशारी की जाती है। कोई पिन चिट्ठियों में लगी आई, तो उसको निकालकर रख लिया जाता है।

लन्दन जाते समय जहाज़ पर एक गोरा था, जो गांधीजी को नित्य कुछ-न-कुछ गालियाँ सुना जाया करता था। एक रोज़ उसने गांधीजी पर कुछ व्यंगपूर्ण कविता लिखी और गांधीजी के पास उसके पन्ने लेकर आया। गांधीजी को उसने पन्ने दिये, तो उन्होंने चुपचाप

पन्नों को फाड़कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया और उन पन्नों में लगी हुई पिन को सावधानी से निकालकर अपनी डिबिया में रख लिया। उसने कहा, "गांधी, पढ़ो तो सही, इसमें कुछ तो सार है,।" "हाँ, जो सार था वह तो मैंने डिबिया में रख लिया है।" इसपर सब हँसे और वह अँग्रेज़ खिसियाना पड़ गया।

मैंने देखा है कि छोटी-सी काम की चीज़ को भी गांधीजी कभी नहीं गवाँते। एक-एक, दो-दो गज़ के सुतली के टुकड़ों को सुरक्षित रखते हैं, जो महीनों बाद काम पड़ने पर सावधानी से निकाल लेते हैं। उनके चरखे के नीचे रखने का काले कपड़े का एक छोटा-सा टुकड़ा आज कोई बारह साल से देखता हूँ, चला आ रहा है। लोगों की चिट्ठियों में से साफ़ काग़ज़ निकालकर उसके लिफ़ाफ़े बनवाकर उन्हें काम में लाते हैं। यह दृश्य एक हद दर्जे के मक्खीचूस से भी बाज़ी मारता है।

लन्दन की बात है। गांधीजी का नियत स्थान था शहर से दूर पूर्वी हिस्से में। दफ्तर था पश्चिमी हिस्से में जो नियत स्थान से सात-आठ मील की दूरी पर था। दिन का भोजन दफ्तर में ही—जो एक मित्र के मकान में था—होता था। नियत स्थान से भोजन का सामान रोज़मर्रा दफ्तर में ले आया जाता था।

भोजन के साथ-साथ कभी-कभी गांधीजी शहद भी लेते हैं। हमलोग इंग्लैण्ड जाते समय जब मिश्र से गुज़रे तो वहाँ के मिश्री लोगों ने शहद का एक मटका भरकर गांधीजी के साथ दे दिया था। उसीमें से कुछ शहद रोज़मर्रा भोजन के लिए बरत लिया जाता था। उस रोज़ भूल से मीराबेन घर से शहद लाना भूल गई और जब समय पर खयाल आया कि शहद नहीं है तो चार आने की एक बोतल मँगाकर भोजन के साथ रखदी। गांधीजी भोजन करने बैठे तो नज़र शीशी पर गई। पूछा—यह शीशी कैसे ? उत्तर में बताया गया कि क्यों शहद खरीदना पड़ा। बस फिर तो तूफ़ान उमड़ पड़ा। "यह पैसे की बर्बादी क्यों ? क्या लोगों के दिये हुए पैसे का हम इस तरह दुरुपयोग करते हैं ? एक दिन शहद के बिना क्या मैं भूखा रह जाता ?"

भारतवर्ष के बड़े-बड़े पेचीदा मसले सामने पड़े थे। उनको किनारे रखकर शहद पर काफ़ी देरतक व्याख्यान और डाँट-डपट होती रही जो पास बैठे हुए लोगों को अखरी भी, पर गांधीजी के लिए छोटे मसले उतने ही पेचीदा हैं जितने कि बड़े मसले। इसमें कभी-कभी लोगों को लघु-गुरु के विवेक का अभाव प्रतीत होता है। पास में रहनेवालों को झुँझलाहट होती है, पर गांधीजी पर

इसका कोई असर नहीं होता।

कपड़ों की खूब अहतियात रखते हैं। ज़रा फटा कि उसपर कारी लगती है। हर चीज़ को काफ़ी स्वच्छ रखते हैं, पर कंजूसी यहाँतक चलती है कि पानी की भी फ़िज़ूल-खर्ची नहीं करते। हाथ-मुहँ धोने के लिए बहुत ही थोड़ा-सा पानी लेते हैं। पीने के लिए उबला हुआ पानी एक शीशी में रखते हैं, जो ज़रूरत पड़ने पर पीने और हाथ-मुहँ धोने के काम आता है।

गांधीजी की दिनचर्या भी व्यवस्थित है। एक-एक मिनट का उपयोग होता है। बाहर से काफ़ी भारी डाक आती है, उसका उत्तर भेजना पड़ता है। अक्सर वह खाते-खाते भी पढ़ते हैं। कभी-कभी खाते-खाते किसी-को वार्तालाप के लिए भी समय दे देते हैं। घूमने का समय भी बेकार नहीं गुज़रता।

गांधीजी प्रायः चार बजे उठते हैं। उठते ही हाथ-मुहँ धोकर प्रार्थना होती है। इसके बाद शौचादि से निवृत्त हो सात बजे सुबह कुछ हलका-सा नाश्ता होता है। उसके बाद टहलना होता है। फिर काम में लग जाते हैं। नौ बजे के क़रीब तेल-मालिश कराते हैं, पर काम मालिश के समय भी चलता रहता है। फिर स्नान से निवृत्त होकर ग्यारह बजे भोजन करते हैं। एक बजेतक काम करके कुछ झपकी लेते हैं। दो बजे के क़रीब उठते हैं, उसके बाद फिर शौच जाते हैं। उस समय भी कुछ काम तो जारी ही रहता है। शौच के बाद पेट पर मिट्टी की पट्टी

बाँधकर कुछ विश्राम करते हैं, पर काम लेटे-लेटे भी जारी रहता है। चार बजे के क़रीब चर्खा कातते हैं। फिर लिखने-पढ़ने का काम होता है। पाँच के क़रीब शाम का ब्यालू होता है, उसके बाद टहलना, सात बजे प्रार्थना, फिर कुछ काम और नौ-साढ़े नौ बजे के क़रीब सो जाते हैं।

आवश्यकता होने पर रात को दो बजे भी उठ जाते हैं और काम शुरू कर देते हैं। गांधीजी का भोजन सीधा-सादा है, पर साल दो साल से हेर-फेर होते रहते हैं। एक ज़माना था, जब केवल मूँगफली और गुड़ खाकर ही रहते थे। बहुत वर्षों पहले मैंने देखा था, वह दूध का बिल्कुल परित्याग करके उसके बदले में एक सौ से ज्यादा बादाम रोज़ खाते थे। कई वर्षों पहले एक मर्तबा यह भी देखा था कि रोटी का परित्याग करके क़रीब एक सौ खजूर खाते थे। इसी तरह एक ज़माने में रोटी ज्यादा खाते, फल कम खाते थे। इस तरह के प्रयोग और रद्दोबदल भोजन में चलते ही रहते हैं। कुछ ही वर्षों पहले नीम की कच्ची पत्तियाँ और इमली का बड़े ज़ोरों से प्रयोग जारी था, पर बाद में उसे छोड़ दिया। कच्चे अन्न का प्रयोग भी बीमार होकर छोड़ा।

ये सब प्रयोग हर मनुष्य के लिए अवांछनीय हैं। आज-कल गांधीजी का भोजन खूब खरखरी सिकी, पतली रूखी रोटी, उबला हुआ साग, गुड़, लहसुन और फल है। हर

चीज़ में थोड़ा-सा सोडा डाल लेते हैं। उनकी राय है कि सोडा स्वास्थ्य के लिए अच्छी चीज़ है। एक दिन में पाँच से अधिक चीज़ें गांधीजी नहीं खाते। इस गणना में नमक भी शुमार में आ जाता है।

गांधीजी अपनी जवानी में पचास-पचास मील भी रोज़ाना चल चुके हैं, पर बुढ़ापे में भी इन्होंने टहलने का व्यायाम कभी नहीं छोड़ा। कभी-कभी कहते हैं कि खाना एक रोज़ न मिले तो न सही, नींद भी कम मिले तो चिंता नहीं, पर टहलना न मिले तो बीमारी आई समझो। पेट पर रोज़मर्रा एक घंटेतक मिट्टी की पट्टी बाँधे रखते हैं, इसका भी काफ़ी माहात्म्य बतलाते हैं।

नींद का यह हाल है कि जब चाहें तब सो सकते हैं। गांधी-अर्विन-समझौते के समय की मुझे याद है। मेरे यहाँ कुछ अँग्रेजों ने गांधीजी से मिलना निश्चय किया था। निर्धारित समय से पन्द्रह मिनट पहले गांधीजी आये। कहने लगे, "मुझे आज नींद की ज़रूरत है, कुछ सो लूँ।" मैंने कहा, "सोने का समय कहाँ हैं? पन्द्रह मिनट तो हैं।" उन्होंने कहा, "पन्द्रह मिनट तो काफ़ी हैं।" चट खटिया पर लेट गये और एक मिनट के भीतर ही गाढ़ निद्रा में सो गये। सबसे आश्चर्य की बात यह थी कि पन्द्रह मिनट के बाद अपने-आप ही उठ गये। मैंने एक

बार कहा, "आपमें सोने की शक्ति अद्‌भुत है।" गांधीजी ने कहा, "जिस रोज़ मेरा नींद पर से क़ाबू गया तो समझो कि मेरा शरीरपात होगा।"

गांधीजी को बीमारों की सेवा का बड़ा शौक़ है। यह शौक़ बचपन से ही है। अफ्रीका में सेवा के लिए न उन्होंने केवल नर्स का काम किया; बल्कि एक छोटा-मोटा अस्पताल भी चलाया, यद्यपि अपनी 'हिन्द-स्वराज्य' नामक पोथी में एक दृष्टि से उन्होंने अस्पतालों की निन्दा भी की है। बीमारों की सेवा का वह शौक़ आज भी उनमें ज्यों-का-त्यों मौजूद है। वह केवल सेवा-तक ही रस लेते हैं ऐसा नहीं है। चिकित्सा में भी रस लेते हैं और सीधी-सादी चीज़ों के प्रयोग से क्या लाभ हो सकता है, इसकी खोज बराबर जारी ही रहती है।

कोई अत्यन्त बीमार पड़ा हो और मृत्यु-शय्या पर हो, और गांधीजी से मिलना चाहता हो तो असुविधा और कष्ट बर्दाश्त करके भी रोगी से मिलने जाते हैं। मैंने कई मर्तबा उन्हें ऐसा करते देखा है और एक-दो घटनाएँ तो ऐसी भी देखी हैं कि उनके जाने से रोगियों को बेहद राहत मिली।

बहुत वर्षों की पुरानी बात है। दिल्ली की घटना है। एक मरणासन्न रोगिणी थी। रोग से संग्राम करते-

करते बेचारी के शरीर का ह्रास हो चुका था। केवल साँस बाकी थी। उसने जीवन से विदाई ले ली थी। और लम्बी यात्रा करना है ऐसा मानकर राम-राम करते अपने अन्तिम दिन काट रही थी। पर गांधीजी से अपनी अन्तिम आशीर्वाद लेना बाक़ी था। रोगिणी ने कहा, 'क्या गांधीजी के दर्शन भी हो सकते हैं? जाते-जाते अन्त में उनसे तो मिल लूँ।'' गांधीजी तो दिल्ली के पास भी नहीं थे, इसलिए उनका दर्शन असम्भव था। पर मरते प्राणी की आशा पर पानी फेरना मैंने उचित नहीं समझा, इसलिए मैंने कहा, ''देखेंगे तुम्हारी इच्छा ईश्वर शायद पूरी कर देगा।''

दो ही दिन बाद मुझे सूचना मिली कि गांधीजी कानपुर से दिल्ली होते हुए अहमदाबाद जा रहे हैं। उनकी गाड़ी दिल्ली पहुँचती थी सुबह चार बजे। अहमदाबाद की गाड़ी पाँच बजे छूट जाती थी। केवल घण्टे भर की फ़ुरसत थी। और रुग्णा बेचारी दिल्ली से दस मील के फासले पर थी। घंटे भर में रोगी से मिलना और वापस स्टेशन आना, यह दुशवार था।

जाड़े का मौसम था। हवा तेज़ी से चल रही थी। मोटर गाड़ी में—उन दिनों खुली गाड़ियाँ हुआ करती थीं—गांधीजी को सवेरे-सवेरे बीस मील सफ़र कराना भी

भयानक था। गांधीजी आ रहे हैं, इसका बेचारी रोगिणी को तो पता भी न था। उसकी तीव्र इच्छा गांधीजी के दर्शन करने की थी। पर इसमें कठिनाई प्रत्यक्ष थी। गांधीजी गाड़ी से उतरे। मैंने दबी ज़बान में कहा—"आप आज ठहर नहीं सकते ?" गांधीजी ने कहा—"ठहरना मुश्किल है।" मैं हताश हो गया। रोगी को कितनी निराशा होगी, यह मैं जानता था।

गांधीजी ने उथलकर पूछा—"ठहरने की क्यों पूछते हो ?" मैंने उन्हें कारण बताया। गांधीजी ने कहा—"चलो, अभी चलो।" "पर मैं आपको इस जाड़े में, ऐसी तेज़ हवा में, सुबह के वक्त मोटर में बैठाकर कैसे ले जा सकता हूँ ?" "इसकी चिंता छोड़ो। मुझे मोटर में बिठाओ। समय खोने से क्या लाभ ? चलो, चलो।" गांधीजी को मोटर में बैठाया। जाड़ा और ऊपर से पैनी हवा, ये बेरहमी से अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे। सूर्योदय तो अभी हुआ भी न था। ब्राह्ममुहूर्त की शांति सर्वत्र विराजमान थी। रुग्णा शय्या पर पड़ी 'राम-राम' जप रही थी। गांधीजी उसकी चारपाई के पास पहुँचे। मैंने कहा—"गांधीजी आये हैं।" उसे विश्वास न हुआ। हक्की-बक्की-सी रह गई। सकपकाकर उठ-बैठने की कोशिश की; पर शक्ति कहाँ थी ? उसकी आँखों से

दो बूँदें चुपचाप गिर गईं। मैंने सोचा, मैंने अपना कर्त्तव्य-पालन कर दिया।

रोगिणी की आत्मा को क्या सुख मिला, यह उस की आँखें बता रही थीं।

गांधीजी की गाड़ी तो छूट चुकी थी, इसलिए मोटर से सफर करके आगे के स्टेशनों पर गाड़ी पकड़ी। गांधीजी को कष्ट तो हुआ, पर रोगी को जो शान्ति मिली, उस सन्तोष में गांधीजी को कष्ट का कोई अनुभव नहीं था।

थोड़े दिनों बाद रोगिणी ने संसार से विदा ली, पर मरने से पहले उसे गांधीजी के दर्शन होगये, इससे उसे बेहद शान्ति थी।

हम भूखे को अन्न देते हैं, प्यासे को पानी देते हैं, उसका माहात्म्य है। रन्तिदेव और उसके बाल-बच्चों ने स्वयं भूखे रहकर किस तरह भूखे को रोटी दी, इसका माहात्म्य हमारे पुराण गाते हैं। पर एक मरणासन्न प्राणी है। अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है। चाहता है कि एक पूज्य व्यक्ति के दर्शन कर लूँ। इस दर्शन के भूखे रोगी की भूख तृप्त होती है। उसे सन्तोष-दान मिलता है। इस दान का माहात्म्य कितना होगा?

## २०

गांधीजी इकहत्तर के हो चले!

पचीस साल पहले जब मुझे उनका प्रथम दर्शन हुआ तब वह प्रौढ़ावस्था में थे; आज वृद्ध हो गये। उस समय की सूरत-वेशभूषा का आज की सूरत-वेशभूषा से मिलान किया जाय तो बड़ा भारी अन्तर है। हम जब एक वस्तु को रोज़-रोज़ देखते रहते हैं तो जो दैनिक परिवर्तन होता है उसको हमारी आँखें पकड़ नहीं सकतीं। परिवर्तन चोर की तरह आता है। इसलिए गांधीजी के शरीर में, उनकी बोलचाल में, उनकी वेशभूषा में, कब और कैसे परिवर्तन हुआ यह आज किसी को स्मरण भी नहीं है। मैंने जब गांधीजी को पहले-पहल देखा तब वह अँगरखा पहनते थे। फिर कुर्त्ता पहने लगे और साफ़े की जगह टोपी ने ले ली। एक सभा में व्याख्यान देते-देते कुर्त्ता भी फेंक दिया, तबसे घुटनों तक की धोती और ओढ़ने की चादरमात्र रह गई।

पहले चोटी बिलकुल नहीं रखते थे। हरिद्वार के कुंभ

पर एक साधु ने कहा, "गांधी, न यज्ञोपवीत, न चोटी, हिन्दू का कुछ तो चिह्न रक्खो।" तबसे गांधीजी ने शिखा धारण कर ली। और वह एक खासी गुच्छेदार शिखा थी। एक रोज़ अचानक सिर की तरफ़ मेरी नज़र पड़ी तो देखता हूँ शिखा नहीं है। शिखा के स्थान के सब बाल धीरे-धीरे उड़ चले और जो शिखा धारण की गई थी वह अपने-आप ही विदा हो गई। शिखा के अभाव ने मुझे याद दिलाया कि जिन पाँच तत्वों से एक-एक चीज़ पैदा हुई थी, उन्हींमें धीरे-धीरे वे अब विलीन हो रही हैं। दाँत सारे चले गये, पर कब-कब गये, कैसे-कैसे चुपके से चलते गये, इसका पास रहनेवालों को कभी ध्यान नहीं है।

लोगों को अपने जीवन में यश-अपयश दोनों मिले हैं। कभी लोक-प्रियता आई, कभी चली गई। ड्यूक ऑव वेलिंग्टन, नेपोलियन, डिज़रायली, ग्लेडस्टन, इत्यादि राजनैतिक नेताओं ने अपने जीवन में उतार-चढ़ाव सब कुछ देखा। पर गांधीजी ने चढ़ाव-ही-चढ़ाव देखा, उतार कभी देखा ही नहीं। अपने जीवन में बड़े-बड़े काम किये। हर क्षेत्र में कुछ-न-कुछ दान किया। साहित्यिक क्षेत्र भी इस दान से न बचा। कितने नये शब्द रचे, कितने नये प्रयोग चलाये, लेखन-शैली पर क्या असर डाला,

इसका तलपट भी कभी लगेगा।

किसीने मिसेज़ बेसेंट से पूछा था कि हिन्दुस्तान में हमारी सबसे बड़ी बुराई कौन-सी है। मिसेज़ बेसेंट ने कहा, "हिन्दुस्तान में लोग दूसरे को गिराकर चढ़ने की कोशिश करते हैं, यह सबसे बड़ी बुराई है।" चाहे यह सबसे बड़ी बुराई हो या न हो, पर इस तरह की बुराई राजनैतिक क्षेत्र में अक्सर यहाँ पाई जाती है। पर गांधीजी ने ज़मीन से खोद-खोदकर हीरा निकाला। उन्होंने राख छान-छानकर सोना जमा किया। सरदार वल्लभभाई को बनाने का श्रेय गांधीजी को है। राजगोपालाचार्यजी को, राजेन्द्रबाबू को गढ़ा गांधीजी ने। सैकड़ों दिग्गज और लाखों सैनिक गांधीजी ने पैदा किये। करोड़ों मुर्दा देश-वासियों में एक नई जान फूँक दी। छोटे-छोटे आदमियों को काट-छाँटकर सुघड़ बना दिया। **"चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊँ, तब गोविन्दसिंह नाम रखाऊँ।"**

जिन गांधीजी की ऐसी देन रही, वह अब बुड्ढे होते जा रहे हैं।

कब बुड्ढे हो गये, इसका हमें ध्यान नहीं रहा।

**"दिन-दिन, घड़ी-घड़ी, पल-पल, छिन्न-छिन्न स्रवत जात जैसे अँजरी को पानी"** ऐसे आयु बीतती जा रही है। पर गांधीजी लिखते हैं, बोलते हैं, हमारा संचालन करते हैं,

इसलिए उनके शारीरिक शैथिल्य का हमें कोई ज्ञान भी नहीं है। हमने मान लिया है कि गांधीजी का और हमारा सदा का साथ है। ईश्वर करे, वह चिरायु हों।

यदि कोई अपनी जवानी देकर गांधीजी को ज़िन्दा रख सके तो हज़ारों युवक अपना जीवन देने के लिए उद्यत हो जायें। पर यह तो अनहोनी कल्पना है।

अन्त में फिर प्रश्न आता है: गांधीजी का जीवन-चरित्र क्या है?

राम की जीवनी को किसी कवि ने एक ही श्लोक में जनता के सामने रख दिया :

**आदौ रामतपोवनाधिगमनं, हत्वा मृगं कांचनम्।**
**वैदेहीहरणं, जटायुमरणं, सुग्रीवसंभाषणम्।**
**बालीनिग्रहणं, समुद्रतरणं, लंकापुरीदाहनम्।**
**पश्चाद्रावणकुंभकर्णहननं, एतद्धि रामायणम्॥**

गांधीजी की जीवनी भी शायद एक ही श्लोक में लिखी जा सके; क्योंकि एक ही चीज़ आदि से अन्ततक मिलती है—अहिंसा, अहिंसा। खादी कहो या हरिजन-कार्य, ये अहिंसा के प्रतीक हैं। पर एक बात है। राम के जीवन को अंकित करनेवाला श्लोक अन्त में बताता है **"पश्चाद्रावणकुंभकर्णहननम्"**। क्या हम गांधीजी के बारे में—**इंग्लैण्डगमनं, विद्याध्ययनम्, भारतागमनं, अफ्रीका-**

गमनं, सत्याग्रहप्रकरणं, भारतपुनरागमनं, सत्याग्रहसंचालनम्, इत्यादि-इत्यादि कहकर अन्त में कह सकते हैं कि "पारतंत्र्यविनाशनम् ?"

कौन कहता है ? गांधीजी अभी ज़िन्दा हैं।

थोड़े ही दिन पहले चीन-निवासी एक विशिष्ट सज्जन ने उनसे प्रश्न किया, क्या आप अपने जीवन में भारत को स्वतन्त्र देखने की आशा करते हैं ?" "हाँ, करता तो हूँ। यदि ईश्वर को मुझसे और भी काम लेना है तो ज़रूर मेरे जीवन-काल में भारत स्वतन्त्र होगा। पर यदि ईश्वर ने मुझे पहले ही उठा लिया तो इससे भी मुझे कोई सदमा नहीं पहुँचेगा।"

पर कौन कह सकता है कि भविष्य में क्या होगा ?

"को जाने कल की ?"

—समाप्त—